

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186748

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 327**
p 13k

Accession No. **H 3422**

Author **पाणिक्कर, के. एम्.**

Title **कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार 1967.**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार

के. एम. पणिक्कर लिखित :

हिन्दूसमाज निर्णय के द्वार पर

भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण (प्रेस में)

कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार

लेखक
के. एम. पणिकर



ए शि या प ब्लि शि ग हा उ स
बम्बई - कलकत्ता - नयी दिल्ली - मद्रास

मुद्रणाधिकार सुरक्षित

जनवरी, १९५७

अँग्रेजी में :

प्रथम बार, जनवरी १९५६

अनुवादक

मुनीश एन. सक्सेना

Checked 1965

Checked 1965

पी. एच. रामन द्वारा असोसिएटेड एडवरटाइजसे एन्ड प्रिंटर्स लिमिटेड,
बम्बई ७ से मुद्रित और पी. एस. जयसिंघे द्वारा एशिया पब्लिशिंग हाउस,
बम्बई १ से प्रकाशित

विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
कूटनीति का स्वरूप	१
कूटनीति के लक्ष्य	१९
साधन और उपाय	३५

कूटनीति के विषय में कुछ सूक्तियाँ

राजदूतों के विषय में	५५
कूटनीति	६७
पुरानी और नयी कूटनीति	८१
नयी कूटनीति में प्रचार का महत्त्व	८७
कूटनीति और आन्तरिक राजनीति	९१
टिप्पणियाँ	९५

१ चिह्नवाले शब्दों के सम्बन्ध में पुस्तकके अन्त में टिप्पणी दी गई है।

कूटनीति का स्वरूप

कूटनीति को बहुधा एक रहस्यमयी और गुप्त कला समझा जाता है और साधारण मनुष्य अपनी कल्पना में कूटनीतिज्ञों को ऐसे कुटिल व्यक्तियों के रूप में देखता है जो उपाधियों की तड़क-भड़क, तरह-तरह की उन्मुक्तियों, विशेषाधिकारों और मनमाने ढंग से पैसा लुटाने की आड़ में भयानक षडयंत्र रचते रहते हैं। १८वीं शताब्दी में और कदाचित् १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आरंभ में इस धारणा को उचित ठहराने के लिए कुछ भी आधार रहा हो परन्तु आज साधारणतया कूटनीतिज्ञ केवल राजसेवा की एक विशेष शाखा के कर्मचारी होते हैं और कूटनीति का काम प्रत्येक स्वतंत्र राज्य की साधारण कार्यवाहियों का एक अंग है। इसमें संदेह नहीं कि राजदूत और मन्त्री अभी तक कुछ मात्रा में उस वैभव का उपभोग करते हैं जो उन्हें अपने पूर्वगामियों से उत्तराधिकार में मिला है। जिन देशों में वे नियुक्त किये जाते हैं वहाँ आज भी उन्हें महामहिम कहा जाता है और उन्हें जो सम्मान, विशेष सुविधाएँ, उन्मुक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं वे दूसरों को नहीं होते, यद्यपि अब इनमें पहले की अपेक्षा बहुत कमी हो गयी है। कूटनीतिज्ञों का यह चित्र कि वे विचित्र पदकों की पेटियों और तमगों से सुसज्जित गोटे-ज्वरी के भारी कामवाली पोशाकें पहनकर सजी-सँवरी महिलाओं और बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं के साथ एक अलौकिक वातावरण में घूमते-फिरते हैं, अब केवल ओपेनहीम' तथा इसी प्रकार के अन्य उपन्यासकारों की रचनाओं को शोभा देता है।

यह प्रचलित धारणा भी इतनी ही मिथ्या है कि कूटनीति कोई अत्यन्त गुप्त और रहस्यमयी वस्तु है। उच्च स्तर पर होनेवाली सारी सरकारी वार्ताओं की तरह कूटनीतिक वार्ताएँ भी गुप्त रखी जाती

हैं। निस्संदेह कूटनीतिज्ञों के काम के संबंध में गोपनीयता का मानदंड अधिक ऊँचा होता है क्योंकि इस काम का संबंध दूसरे देशों और सरकारों से भी होता है और कदाचित् इसलिए भी कि सभी देशों की सरकारों को बहुधा यह जानने में दिलचस्पी होती है कि दूसरे देशों में क्या हो रहा है और इस उद्देश्य से वे विशेष प्रकार की व्यवस्था करते हैं जिसे शिष्ट भाषा में 'इनटेलिजेन्स सर्विस' अर्थात् जानकारी प्राप्त करनेवाली व्यवस्था कहा जाता है। विदेशों में स्थित कूटनीतिक मंडलों के साथ संचार का सारा काम गुप्त लिपि में या विशेष संदेशवाहकों के हाथ भेजे गये कूटनीतिक डाक के थैलों (डिप्लोमैटिक बैग) द्वारा सम्पन्न होने के कारण रहस्य का यह वातावरण और भी गहरा हो जाता है। कभी-कभी दुनिया के समाचारपत्रों में इन रहस्यों के बारे में विचित्र समाचार प्रकाशित होते हैं कि किस प्रकार रहस्यमय परिस्थितियों में कूटनीतिक भेदों का पता लगाया गया और संदेशवाहकों को रास्ते में छापा मारकर लूट लिया गया। ब्रिटेन के एक राजदूत की तिजोरी में से किस प्रकार स्वयं उनका निजी नौकर अत्यन्त गुप्त दस्तावेज नियमित रूप से चुराकर जर्मन राजदूत के हाथ बेच दिया करता था, इसके बारे में 'आपरेसन सिसेरो' में जो सनसनीपूर्ण रहस्योद्घाटन किया गया है वह इस प्रकार की कई और घटनाओं में से केवल एक नवीनतम और सबसे विख्यात घटना है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि कूटनीति ने कई शताब्दियों के दौरान में अपनी अलग ही एक भाषा तैयार कर ली है, जो सुनने में विचित्र मालूम होती है और जिसमें साधारण वस्तुओं को भी विशेष नाम दे दिये गये हैं; निस्संदेह ही इससे रहस्य की भावना और गहरी हो गयी है। उदाहरण के लिए, किसी सरकार द्वारा दूसरे देश में राजदूत के पद पर किसी व्यक्ति विशेष की नियुक्ति पर उस देश की सहमति के लिए हमेशा फ्रांसीसी भाषा के शब्द 'अंग्रेमों' का प्रयोग किया जाता है। प्रोटोकोल (कूटनीतिक दस्तावेज का मूल प्रारूप, कूटनीतिक आचरण के नियम), देमार्श (राजनीतिक कदम या कार्यवाही), नोट्स

वर्बल (ऐसा कूटनीतिक संदेश जिस पर हस्ताक्षर न हों), एडी मेम्बायर (स्मरणार्थ पुस्तक या दस्तावेज) तथा इसी प्रकार के अन्य शब्द कानों को अपरिचित मालूम होते हैं। वास्तव में यह एक शाब्दिक आडम्बर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसकी सहायता से कूटनीतिज्ञ अपने नीरस काम को एक विशेष मर्यादा प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में कूटनीति क्या है ? वह किन लक्ष्यों का साधन करने का प्रयत्न करती है ? उसे व्यवहार में कैसे लाया जाता है ? पिछले कुछ वर्षों में उसमें क्या परिवर्तन आये हैं ? ये कुछ प्रश्न हैं जिनका मैं इन व्याख्यानों में संक्षेप में उत्तर देने का प्रयत्न करूँगा।

जब महाराज युधिष्ठिर ने भगवान कृष्ण से कौरवों के दरबार में विशेष दूत बनकर जाने को कहा तो द्रौपदी ने उनसे पूछा कि ऐसे असाध्य लक्ष्य को प्राप्त करने का बीड़ा उठाने में उनका क्या अभिप्राय था ? श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—“मैं पाण्डवों के पक्ष को सर्वोत्तम ढंग से प्रस्तुत करने के लिए कौरवों के दरबार में जाऊँगा, उन लोगों से तुम्हारी माँगें मनवाने का प्रयत्न करूँगा और यदि मेरा यह प्रयास असफल रहा और युद्ध अनिवार्य हो गया तो हम सारे संसार के सामने यह सिद्ध कर देंगे कि किस प्रकार हम न्याय के पथ पर हैं और वे अन्याय के, ताकि संसार हम दोनों के बारे में किसी गलत निष्कर्ष पर न पहुँचे।” भगवान कृष्ण के इस कथन में कूटनीति के सारे रहस्यों का समावेश है। इसका उल्लेख हम आगे चलकर फिर करेंगे।

संगठित राज्यों के अस्तित्व के प्रारंभ से ही कूटनीति और कूटनीतिज्ञों का भी अवश्य ही अस्तित्व रहा होगा क्योंकि पारस्परिक संबंधों के बिना राज्यों का अस्तित्व ही कठिन है। कौटिल्य ने ‘अर्थशास्त्र’ में अत्यन्त विस्तारपूर्वक कूटनीतिक संबंधों के संचालन के नियम बताये हैं और साम-दान-भेद-दंड के सिद्धान्त आज भी समस्त कूटनीति के आधार हैं। आज भी, जबकि ऐसा प्रतीत होता है कि कूटनीतिक आचरण की एक नयी नियमावली अस्तित्व में आ रही है, कौटिल्य के कूटनीति-

संबंधी कुछ विचार ध्यान में रखने योग्य हैं।

कौटिल्य का पहला उल्लेखनीय सूत्र है : जिससे अनुकूल फल प्राप्त न हो वह नीति बुरी है: अर्थात् नीति को उससे प्राप्त होनेवाले फल की कसौटी पर परखना चाहिये। कूटनीति आदर्शों को लक्ष्य मानकर नहीं चलती बल्कि राज्य के लिए वास्तविक सफलता प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य होता है। कौटिल्य ने राज्य की षट्मुखी नीति की व्याख्या इस प्रकार की है : शान्ति, युद्ध, तटस्थता का पालन, युद्ध-तत्परता, संधि और शत्रुओं में फूट डालना। सैनिक दृष्टि से कमजोर देशों के लिए उन्होंने शान्ति, विकास, झगड़ों में न फँसने और अपने से शक्तिशाली राज्यों के साथ मित्रता की नीति अपनाने का परामर्श दिया है।

कौटिल्य का एक और सूत्र है : किसी भी राजा को ऐसी नीति पर न चलना चाहिये जिससे अपने ही किसी काम के फलस्वरूप वह अपना लाभ तो खो दे और उससे शत्रु को कोई हानि भी न हो।

‘अर्थशास्त्र’ के जिस अध्याय में राजदूत भेजने के प्रश्न पर विचार किया गया है, उसमें कौटिल्य ने निम्नलिखित शब्दों में बताया है कि कूटनीतियों से क्या आशा की जाती है—“अपनी सरकार के दृष्टिकोण को दूसरी सरकार तक पहुँचाना, संधियों को बनाये रखना, अपने राज्य के हितों की रक्षा करना—यदि आवश्यक हो तो डरा-धमकाकर भी, मित्र बनाना, फूट डालना, . . . गुप्त संगठन बनाना, गुप्तचरों की गतिविधि के बारे में जानकारी प्राप्त करना, जो संधियाँ अपने राज्य के हित में न हों उन्हें निष्फल बनाना, उस देश के (जिसमें वह नियुक्त हो) शासनाधिकारियों को अपनी तरफ मिलाना, ये राजदूत के कर्तव्य हैं। प्रत्येक राजदूत को ऐसे पदाधिकारियों से मित्रता बढ़ानी चाहिये जिनके अधीन वन-प्रदेशों, शहरों के सीमावर्ती प्रदेशों और देहातों का प्रशासन हो। उसे उस देश के सैनिक केन्द्रों, उसकी आर्थिक शक्ति और उसके दुर्गों की तुलना अपने स्वामी के सैनिक केन्द्रों, उसकी आर्थिक शक्ति और उसके दुर्गों के साथ करनी चाहिये। उसे किलों के आकार और विस्तार

का पता लगाना चाहिये और साथ ही यह भी मालूम करना चाहिये कि वे विशेष कोषालय कहाँ स्थित हैं जिनमें बहुमूल्य वस्तुएँ रखी जाती हैं।”

इन आदेशों की सार्थकता आज भी उतनी ही है जितनी कि ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में इनके लिखे जाने के समय थी। कौटिल्य के ‘अर्थशास्त्र’ के पूरे ७वें खंड में वैदेशिक नीति, संधियों के स्वरूप और उचित नीति द्वारा राज्य की सुरक्षा के उपायों पर विचार किया गया है; यही कूटनीति का लक्ष्य है। ‘कामंदक नीतिशास्त्र’, ‘शुक्र नीतिसार’ और प्राचीन भारत की अन्य प्रतिष्ठित रचनाओं में भी कूटनीतिक संबंधों पर विचार किया गया है।

यूनान के नगर-राज्यों ने कूटनीति की एक ऐसी पद्धति विकसित की थी जिसकी बहुत सी जानकारी हमें प्राप्य है। यह स्मरणीय है कि द्राय का युद्ध वस्तुतः आरंभ होने से पहले मेनेलाउस और यूलीसिस उसी प्रकार एक कूटनीतिक लक्ष्य लेकर द्राय गये थे जिस प्रकार भगवान् कृष्ण कौरवों के दरबार में गये थे। यूनानी नगर-राज्य विविध प्रकार की संधियों, मैत्री संबंधों और समझौतों के बारे में वार्ता करते थे; इन सबमें कूटनीतिक मंडलों की आवश्यकता पड़ती थी और ये कूटनीतिक मंडल एक सुविस्तृत तथा सामान्यतः सर्वमान्य कार्यपद्धति का पालन करते थे। रोमवासियों ने भी एक पद्धति निर्धारित की थी। यह सुविदित है कि बाइज़ेन्टियम के राज-दरबार में कूटनीति एक परिमार्जित कला बन गयी थी और विदेशों से आनेवाले मंडलों के स्वागत के समय बड़ी धूमधाम के साथ समारोह होता था।

इस प्रकार यद्यपि कूटनीति का इतिहास बहुत पुराना है और राजा तथा शासक सदैव ही राजदूतों का स्वागत करते थे, उनके साथ सम्मान का व्यवहार करते थे और उनके साथ वार्ताएँ भी करते थे, पर अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की वर्तमान पद्धति, जिसकी एक स्थायी व्यवस्था है और जिसमें इन संबंधों का निरन्तर नियमन होता रहता है, बहुत

पुरानी नहीं है। वास्तव में यह पद्धति १५वीं शताब्दी के अन्त में आरंभ हुई जब योरप में अलग-अलग राज्यों की स्थापना हो रही थी। स्थायी कूटनीतिक मंडल की स्थापना का जो पहला लिखित उदाहरण हमें मिलता है वह सन् १४५० में मिलान के ड्यूक द्वारा कास्मो डि मेडिची' के यहाँ भेजे गये राजदूत-मंडल का उदाहरण है। जिस समय स्पेन, फ्रांस, इंग्लैंड और इटली के गणतंत्र, विशेषतः जेनेवा और वेनिस, सभी एक दूसरे से आगे बढ़ जाने का प्रयत्न कर रहे थे, उस समय अपने प्रतिद्वन्द्वियों के दरबारों में स्थायी राजदूत रखने की आवश्यकता स्पष्ट हो गयी थी।

उस समय के राजदूत अपने देश की सरकार को केवल उन राज्यों के, जहाँ वे नियुक्त किये जाते थे, घटनाक्रम की सूचना ही नहीं भेजते थे बल्कि बहुधा उस देश के भीतर की राजनीति में हस्तक्षेप भी करते थे, विद्रोहियों और राजद्रोहों के लिए धन देते थे, विरोधी दलों का समर्थन करते थे और सामान्यतया अपने-अपने देशों के हितों को आगे बढ़ाने और दूसरे देशों में गड़बड़ी फैलाने की यथाशक्ति चेष्टा करते थे। दूमास' के उपन्यासों के पाठकों को याद होगा कि उसने अपने कई उपन्यासों में स्पेन के राजदूत का चित्रण राजनीतिक षड्यंत्रों के केन्द्रीय पात्र के रूप में किया है, जो विभिन्न दलों के नेताओं को रिश्वतें देता था, राजद्रोहियों को परामर्श देता था और स्वयं राज-परिवार में भी फूट डालने का प्रयत्न करता था। दूसरे देश भी इसी विधि का पालन करते थे। यह सोचना कि आजकल के राजदूत यह सब कुछ नहीं करते, निराधार होगा। इस प्रकार की कार्यवाहियों के लिए लोकतंत्रों में भी उतने ही प्रचुर अवसर होते हैं जितने कि राजतंत्रों में। भविष्य में यदि कभी पिछले कुछ वर्षों की कूटनीति का इतिहास लिखा गया तो उसमें कई ऐसे वृत्तान्त मिलेंगे जिनसे मालूम होगा कि कई प्रासाद-विद्रोह राजदूतों की कार्यवाहियों के फलस्वरूप हुए। यही कारण है कि स्वतंत्र देशों में भी राजदूतों को भय और शंका की दृष्टि से देखा जाता है। १६वीं शताब्दी में अनेक योरपीय राजे-महाराजे अपने देश में दूसरे देशों के स्थायी

राजदूतों की नियुक्ति के प्रति उतनी ही अरुचि दिखाते थे जितनी कि चीन के सम्राट्, जो सन् १८५० में नानकिंग की संधि होने के समय तक इस प्रकार की सारी प्रार्थनाओं को हठधर्मी से ठुकराते रहे। फिलिप डि कोमाइन्स ने, जो स्वयं एक अनुभवी कूटनीतिज्ञ और इतिहासकार था, राजदूत भेजने और बुलाने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना की है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हमारे इस युग में कूटनीतिक मंडलों के प्रति यह भय और शंका की भावना बिल्कुल दूर हो गयी है। कम्युनिस्ट देशों में राजदूतों और उनके कर्मचारियों की घूमने-फिरने की स्वतंत्रता बहुत सीमित है। उनके सम्पर्क साधारणतया सरकारी क्षेत्रों तक ही रहते हैं। गैर-कम्युनिस्ट देशों में यद्यपि ये प्रतिबंध औपचारिक रूप से नहीं लगाये गये हैं, फिर भी कम्युनिस्ट देशों के कूटनीतिज्ञों के साथ बहुत घनिष्ट मेल-जोल संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।

चूंकि पुराने जमाने में योरोप के सभी देशों के राजाओं-महाराजाओं और उच्च अभिजात वर्ग का एक दूसरे से निकट संबंध था इसलिए योरोपीय कूटनीतिक पद्धति में कुछ ऐसी विशिष्टताएँ पैदा हो गयीं जो कुछ हेर-फेर के साथ १९वीं शताब्दी के अन्त तक बनी रहीं। योरोपीय कूटनीतिज्ञों के मानदंडों में एकरूपता थी; वे एक-दूसरे को समझते थे। बड़े-बड़े शासक परिवारों के वंशगत हितों को स्वीकार किया जाता था और उन्हें समझा जाता था। वास्तव में यह एक व्यवस्थित पद्धति थी जिसमें राजाओं-महाराजाओं के वंशगत हितों, दावों और उनकी महत्वाकांक्षाओं को स्वीकार करना और शक्ति-संतुलन कायम रखने की सामान्य इच्छा को सबके लिए हितकर समझा जाता था। जब तक कूटनीति इस सुसम्बद्ध समूह तक सीमित रही, तब तक उसके लिए राजनीतिक संबंधों की एक प्रणाली और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक पद्धति का विकास करना संभव था। शक्तियों की विशेष ढंग की प्रतिद्वन्द्विता में, जैसे स्काटलैंड के दक्षिणी-पूर्वी भाग में ब्रिटेन और फ्रांस के हितों के, इटली में स्पेन और फ्रांस के हितों के, और जर्मन राज्य

संगठन के भीतर आस्ट्रिया और प्रशा के हितों के संघर्ष में इस प्रकार की कूटनीति प्रशंसनीय रूप से उपयोगी सिद्ध हुई, क्योंकि इन राज्यों को एक प्रकार के सीमित मित्रतापूर्ण युद्ध द्वारा अपने अधिकारों या माँगों को बल प्रदान करने में कोई संकोच नहीं होता था; इन युद्धों में दोनों पक्षों के प्रधान सेनापति एक-दूसरे को पहला प्रहार करने का न्योता देते थे।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस के प्रवेश से इस पारिवारिक पद्धति में पहली दरार पड़ी। दूसरी और अधिक खतरनाक दरार थी फ्रांस की क्रान्ति जिसने वंशगत हितों की उपेक्षा की, दूसरे देशों में विद्रोहों का खुल्लम-खुल्ला समर्थन किया और कूटनीतिक संबंधों की वृहद् नियमावली को बिल्कुल निष्क्रिय बना दिया। पर यह दरार तो दुबारा भर दी गयी और वियना की संधि (सन् १८१५) के बाद, जिस समय से कार्य-विधि की वह नियमबद्ध पद्धति प्रचलित हो गयी जिसे साधारणतया 'प्रोटोकॉल' कहते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के पुराने ढाँचे का पुनर्निर्माण किया गया, पर इस बार तुर्की को भी योरपीय व्यवस्था के एक पूरे सदस्य के रूप में शामिल कर लिया गया।

वियना की संधि से लेकर पहले विश्वयुद्ध तक के सौ वर्षों का काल परिष्कृत कूटनीति का महान युग था। उस काल के कुछ सर्वप्रसिद्ध राजनेता तालेरॉ, शातोब्रियॉ, मेटर्निख, कैवूर, बिसमार्क, कैनिंग, क्लैरेंडन, पामस्टर्न और सैलिसबरी' केवल कूटनीतिज्ञों और वैदेशिक नीति के निर्माताओं के रूप में ही प्रख्यात नहीं थे बल्कि वे स्वयं इतिहास के रंगमंच के मुख्य अभिनेताओं में से थे। वास्तव में शान्ति के उस युग में, जिसका सौभाग्य योरपीय जगत को १९वीं शताब्दी में प्राप्त रहा, राज्यों के पारस्परिक संबंध स्वाभाविक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सर्वमान्य नियमों पर आधारित रहे और फलस्वरूप कूटनीति को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यह भी महत्त्व की बात है कि ऐसे वातावरण में शान्तिपूर्ण कूटनीति द्वारा ही बहुत कुछ प्राप्त किया

गया। युद्ध होते अवश्य थे पर वे मुख्यतः ऐसे युद्ध थे जो निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जानबूझकर कूटनीति द्वारा छेड़े जाते थे; वे ऐसे युद्ध नहीं होते थे जिन्हें बाद में चलकर सर्वध्वंसकारी युद्ध कहा जाने लगा। सन् १८६५ में आस्ट्रिया और जर्मनी का युद्ध इसका एक अच्छा दृष्टान्त है। इसका एक सीमित लक्ष्य था और यह लक्ष्य पूरा होते ही बिसमार्क ने फिर कूटनीतिक कार्यवाही का मार्ग अपनाया और ऐसी शान्ति की स्थापना की जिसने आगे चलकर इन दो जर्मन राज्यों की मैत्री का रूप धारण कर लिया।

परन्तु इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि उस समय समस्याओं को कूटनीतिक ढंग से हल करने का विचार केवल योरोप पर ही लागू होता था। अमरीका का इसमें कहीं नाम भी नहीं था। जहाँ तक एशिया का संबंध था उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि से बाहर समझा जाता था। वास्तव में एशिया योरोपीय कूटनीति का विषय था; वह ऐसी समस्याओं का एक क्रम था जिन पर योरोपीय राष्ट्र आपस में विचार कर लेते थे। विशेष रूप से १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सुदूर-पूर्व योरोपीय राष्ट्रों की प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा बन गया, और जिस कूटनीति द्वारा एशिया के भाग्य का निर्णय किया जाता था उसका संचालन एशियाई देशों की राजधानियों की अपेक्षा योरोप में अधिक होता था। उदाहरणार्थ, स्याम के भाग्य का निबटारा अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच एक समझौते के आधार पर हुआ, जिसकी बातचीत फ्रांस और इंग्लैंड की सरकारों के बीच हुई थी। अफगानिस्तान और फारस का महत्त्व केवल इतना था कि वे ऐसे इलाके थे जहाँ अंग्रेजों और रूसियों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण शान्ति को खतरा था और बाद में जहाँ कूटनीति द्वारा उनके प्रभाव की सीमाएँ निर्धारित करके उनके प्रभाव-क्षेत्र अलग-अलग कर दिये गये। बर्मा की स्वतंत्रता इस बहाने छीन ली गयी कि अंग्रेजों को फ्रांसीसियों के तथाकथित अतिक्रमण को रोकना था; जापान तक को शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण अपनी भूमि पर दूसरों के आधिपत्य

का अपमान सहन करना पड़ा। एशियाई राज्य राष्ट्रों के परिवार में नहीं गिने जाते थे; वे केवल ऐसे विषय थे जिन पर योरपीय राष्ट्र अपनी कूटनीति का अभ्यास करते थे।

संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा योरप की समस्याओं में दिलचस्पी लेने से इंकार करने और १९वीं शताब्दी में एशियाई राज्यों—ईरान, चीन और जापान—की कमजोरी का परिणाम यह हुआ कि कूटनीति के क्षेत्र में योरप का एकाधिकार रहा। सुदूर-पूर्व की घटनाएँ केवल योरपीय कूटनीति के परिणामों को प्रतिबिम्बित करती थीं। पर १९वीं शताब्दी के अन्त तक इस ढाँचे में काफी परिवर्तन हो गये थे। जापान ने बलपूर्वक राष्ट्रकुल में अपने लिए स्थान बना लिया था और बर्लिघेम' की पश्चिम-यात्रा के बाद चीनी साम्राज्य ने भी विदेशों में अपने कूटनीतिक मंडल भेजने का निर्णय कर लिया था। प्रशान्त महा-सागर के क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमरीका की दिलचस्पी बढ़ती जा रही थी और यद्यपि योरपीय समस्याओं के प्रति उसका रवैया अब भी तटस्थता की नीति द्वारा निर्धारित होता था, फिर भी अटलांटिक महा-सागर के पार फैले हुए एक विशालकाय राज्य के विकास ने धीरे-धीरे योरपीय राज्य-गठन को बदल दिया। सन् १९१४-१९ के महायुद्ध के बाद कूटनीति में जो परिवर्तन आया उसकी कल्पना न बिसमार्क ही कर सकता था और न सैलिसबरी ही, जो दोनों ही १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कूटनीतिक इतिहास के प्रमुखतम पात्र थे।

इस परिवर्तन में तीन मुख्य बातों ने योग दिया। पहली थी रूसी क्रान्ति जिसने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में एक ऐसे तत्व को प्रविष्ट कर दिया जिसके बारे में पहले से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। लेनिन और उसके साथियों ने वह पद्धति आरंभ की जिसे 'नयी कूटनीति' कहा जाने लगा है। इसकी प्रथम देन यह थी कि उन्होंने रूसी पुरालेखशाला के सारे गुप्त दस्तावेज प्रकाशित कर दिये और इस प्रकार कूटनीतिक वार्ताओं के रहस्यमय तथा गुप्त स्वरूप पर एक घातक प्रहार किया। सहज ही

कल्पना की जा सकती है कि इसका क्या परिणाम हुआ होगा। हर देश ने विभिन्न अवसरों पर तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ऐसे कार्य करने की या तो प्रार्थना की थी या वे ऐसे कार्य करने पर सहमत हुए थे जो उनकी प्रत्यक्ष घोरणाओं के प्रतिकूल थे। यह सब कुछ गुप्त रूप से, इस दृढ़ विश्वास के साथ किया गया था कि ये करार, समझौते या विचार कभी प्रकाशित नहीं किये जायेंगे। इन दस्तावेजों के प्रकाशन से ही हो-हल्ला मच गया और यह अनुभव किया जाने लगा कि यदि इस बात का खतरा रहा कि किसी दूसरे दल के सत्तारूढ़ होने पर गुप्त वार्ताएँ प्रकाशित कर दी जायेंगी तो भविष्य में गुप्त वार्ताएँ करना ही कठिन हो जायेगा। इसके अतिरिक्त सोवियत राज्य ने अफगानिस्तान और ईरान जैसे देशों के साथ समानता के आधार पर कूटनीतिक संबंध स्थापित कर लिये; उस समय तक इन देशों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सुविधाओं का अधिकारी नहीं समझा जाता था। इस नयी कूटनीति के सिद्धान्तों और व्यवहार के बारे में आगे चलकर कुछ और भी कहा जायेगा।

इतना ही महत्वपूर्ण एक दूसरा कारण यह था कि संयुक्त राज्य अमरीका एक विश्व-शक्ति बन गया और लैटिन अमरीकी राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भाग लेना आरंभ किया। एक महत्वपूर्ण परिवर्तन स्पष्ट दिखायी देने लगा था।

एक तीसरा कारण यह था कि एशिया ने अपनी स्वतंत्रता दुबारा प्राप्त कर ली थी और यह बात अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रतिबिम्बित होने लगी थी; दो महायुद्धों के बीच की अवधि में तो केवल इस दिशा का संकेतमात्र मिलता था। जापान को बड़ी शक्ति मान ली लीया गया था; परन्तु उसके अतिरिक्त चीन विभाजित और कमजोर होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में एक महत्वपूर्ण उपकरण बन गया था। 'वार्शिंगटन सम्मेलन' में और लीग आफ नेशन्स की बहसों में चीन की आवाज के पीछे ऐसा नैतिक बल होता था जिसकी अवहेलना करना असंभव था। स्याम, ईरान और अफगानिस्तान लीग आफ नेशन्स के सदस्य बन गये थे।

कूटनीति में अब योरप का एकाधिकार नहीं रह गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की पुरानी प्रणालियाँ पूर्ववत् बनी रहीं और देखने में यह नयी अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति केवल उसी पद्धति का क्रम थी जिसका योरप में चार सौ से अधिक वर्षों तक पालन किया गया था। परंतु दूसरे महायुद्ध के बाद यह ढोंग भी खत्म हो गया। अब राष्ट्रकुल का बाहरी दिखावा भी बाकी नहीं रह गया; अब उसका स्वरूप उस परिवार जैसा नहीं रह गया था जिसके झगड़े समझौते की वार्ता की प्रचलित विधियों, न्यायपरायणता की मीठी-मीठी बातों और हितों में एक सामान्य संतुलन की स्थापना द्वारा और कभी-कभी मारपीट द्वारा तै किये जा सकें। संसार दो दलों में विभाजित हो गया और दोनों ही में कूटनीति की दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं, एक तो अपने क्षेत्र के देशों के प्रति व्यवहार के लिए और दूसरी उस क्षेत्र से बाहर के देशों के साथ बरतने के लिए। पहले तो भीषण से भीषण तनातनी के दिनों में भी अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति का सारा कार्य हँसी-खुशी के वातावरण में हुआ करता था। आज इन दोनों दलों के पारस्परिक कूटनीतिक व्यवहार में दोनों ही तरफ हरदम त्योरियाँ चढ़ी रहती हैं। ऐसा क्यों है? मुझे तो इसका कारण बहुत सीधा-सादा मालूम होता है। योरप का पुराना राज्य-संगठन, जिसे कूटनीति की भाषा में 'कन्सर्टेड आफ्र योरप' कहा जाता था, और जो कुछ हद तक पिछले महायुद्ध से पहले दूसरे क्षेत्रों में भी फैल गया था, अब बाकी नहीं रह गया है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, कूटनीतिक संबंधों की पद्धति की उत्पत्ति १५वीं शताब्दी के अन्त में योरपीय राज्य-व्यवस्था के विकास के साथ हुई। आज वह पद्धति इस बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो गयी है कि उसे दुबारा स्थापित नहीं किया जा सकता और जो कूटनीति उस युग के लिए उपयुक्त थी वह अब उपयोगी नहीं रह गयी है। संबंधों का नया स्वरूप क्या हो, यह अभी निश्चित होना है।

हमें इस बात को ईमानदारी से स्वीकार कर लेना चाहिये कि

एक महान युग का अन्त हो गया है। वह महान कार्यों का एक लम्बा युग था; उस युग में मानव-प्रयास के प्रायः सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। उस युग में महान अनुसंधान हुए; उपनिवेश बसाये गये; यंत्र-कौशल में तथा अन्य क्षेत्रों में प्रगति हुई। वह पूंजीवाद, स्वतंत्र प्रयास और वैयक्तिक पराक्रम का युग था। आज आधी दुनिया उस युग के मूलभूत सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करती। नया युग पुराने युग की संस्थाओं को स्वीकार नहीं करता और अभी तक उन दोनों के बीच व्यवहार का कोई मानदंड स्थापित नहीं हो सका है। इसलिए कूटनीति की दो पद्धतियाँ अनिवार्य हैं।

नयी कूटनीति का स्वरूप केवल 'कन्सर्ट आफ़ योरप' और राष्ट्र-कुल की धारणाओं के टूट जाने से ही निर्धारित नहीं हुआ। इसमें सबसे महत्वपूर्ण भूमिका प्रचार की विधियों की रही है। इसमें कोई नयी बात नहीं थी। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं भगवान कृष्ण ने भी अपने इस इरादे की घोषणा की थी कि कौरवों के दरबार में उन्हें बोलने का जो अवसर मिलेगा उसका फायदा उठाकर वे सारी दुनिया के सामने पाण्डवों की बात कहेंगे। यूनानियों में 'डेमोस्थेनीज़' कूटनीति के क्षेत्र में एक महान प्रचारक था। योरप का सबसे सिद्धहस्त कूटनीतिज्ञ कार्डिनल रिशल्यू^१ जनमत को अपनी नीति के पक्ष में मोड़ने के लिए पुस्तिकाएँ और लेख प्रकाशित करने में संकोच नहीं करता था। पर ये वैयक्तिक व्यवहार के उदाहरण थे, एक पद्धति के अंग नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए संसद में भाषणों और समाचार-पत्रों में सम्पादकीय लेखों का प्रयोग करना आधुनिक कूटनीति को कैनिंग की देन थी; परन्तु केवल अपने ही देश में नहीं बल्कि दूसरे देशों में भी जनमत को गुमराह करने की कला में सबसे प्रवीण बिसमार्क था। एम्स तार^२ की कहानी और फ्रांसीसी अंध-राष्ट्रवाद की ज्वाला भड़काने में उसकी भूमिका से सभी परिचित हैं। परन्तु जिस जमनत को कैनिंग, पामस्टन और बिसमार्क प्रभावित करने का प्रयत्न करते थे। वह

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में दिलचस्पी रखनेवाला एक सीमित समूह था। बुडरो विल्सन' के काल से हम एक नये जगत में प्रवेश करते हैं। उनके चौदह सूत्र हर देश में सर्वसाधारण के जनमत को प्रभावित करने के उद्देश्य से बनाये गये थे—अमरीका के मित्र देशों में भी और शत्रु देशों में भी। विल्सन ने कूटनीति को समाचारपत्रों के मुख्य शीर्षकों का विषय बना दिया—जातियों का आत्म-निर्णय आदि।

खुले ढंग से किये गये खुले करार—यह था कूटनीति का स्वरूप जो विल्सन चाहता था। यद्यपि इस आकर्षक शब्दावली ने उस समय के आमूल परिवर्तन के समर्थकों में बहुत उत्साह जागृत किया, जो महायुद्ध की विभीषिकाओं का सारा दोष कूटनीति की असफलता के सर मढ़ना चाहते थे, परन्तु आरंभ से ही यह स्पष्ट था कि समझौतों की वार्ता खुले ढंग से नहीं हो सकती थी और जब महत्त्वपूर्ण निर्णय करने हों तो पूर्ण गोपनीयता से बचा भी नहीं जा सकता। लुई चौदहवाँ' जैसा व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि “खुली कूटनीति” को प्रोत्साहन न दिया जाना चाहिये। महाराजाधिराज ने कहा, “समझौतों की खुली वार्ता के कारण वार्ता में भाग लेनेवालों में यह प्रवृत्ति पैदा हो जाती है कि वे अपने देश के शासकों की मर्यादा, उनके हितों और उनके तर्कों पर हठ-धर्मी के साथ अड़े रहने को अपना निजी मान समझने लगते हैं और फलस्वरूप वे बहुधा ऐसे अवसर पर प्रस्तुत किये गये श्रेष्ठतर तर्कों के आगे सर झुकाने से इंकार करते हैं।” इस कथन की सार्थकता संयुक्त राष्ट्र संघ में होनेवाले वाद-विवादों से भली भाँति सिद्ध हो जाती है। इस दिशा में स्वयं विल्सन का प्रयोग, लीग आफ नेशन्स का करार-नामा, बुरी तरह असफल रहा और उसे सीनेट की स्वीकृति भी प्राप्त न हो सकी।

नयी कूटनीति को जिस रूप में हम आज देखते हैं, वह उस समय से व्यवहार में आयी जब ब्रेस्त-लितोव्स्क' में ट्राट्स्की और जर्मनी के बीच संधि की वार्ता हुई और ट्राट्स्की न तत्कालीन विजयी शत्रु की

परवाह न करते हुए सीधे दुनिया के सर्वहारा वर्ग को सम्बोधित किया। उस समय से कम्युनिस्ट कूटनीति ने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही की दृष्टि से बहुत प्रगति की है, परन्तु विभिन्न देशों की सरकारों की परवाह न करते हुए सीधे वहाँ की जनता को सम्बोधित करने का सिद्धान्त, चाहे यह सम्बोधन श्रमिक वर्ग की एकता के नारे पर आधारित हो या शान्ति के नाम पर, इस कूटनीति का एक अटल आधार रहा है।

राज्यों के पारस्परिक संबंधों के प्रसंग में दूसरे देशों में प्रचार के उपयोग का संबंध साम्यवाद से नहीं है और न ही सोवियतों ने इस पद्धति को जन्म दिया। कोई भी सरकार जो यह समझती है कि जिन सिद्धान्तों पर वह आधारित है वे ही शाश्वत सत्य हैं, स्वभावतः हर जगह प्रचार करने पर बाध्य होती है। अपने वैभवकाल में इस्लाम ने यही किया और जो भी इस्लाम को स्वीकार करता था वह यह अनुभव करता था कि उसका धर्म उसके धर्मोत्तर दायित्वों से बढ़कर है। कैथोलिक गिरजा जिस समय अपनी राजनीतिक सत्ता के शिखर पर था, उस समय उसने इस शक्ति का प्रयोग तत्कालीन शक्तिशाली राजाओं-महाराजाओं के विरुद्ध किया। फ्रेडरिक होहेन्स्टाउफेन^१ को, जिसे उसके समकालीन संसार का एक चामत्कारिक पुरुष मानते थे, बिरादरी से बाहर कर दिया गया, उसे सताया गया और इस विधि से अन्ततः उसके वंश को निर्मूल कर दिया गया। पोप ने अपने प्रचार की सारी शक्ति इंग्लैंड की साम्राज्ञी एलिज़ाबेथ^१ के विरुद्ध लगा दी। इसलिए जो चीज नयी है वह प्रचार नहीं बल्कि प्रचार की विधि है। समाचारपत्रों के देशव्यापी प्रसार, रेडियो-प्रसार जिसके द्वारा एक साथ करोड़ों लोगों तक पहुँचा जा सकता है और इसके अतिरिक्त टेलीविजन, फिल्मों और सैकड़ों अन्य साधनों ने प्रचार के क्षेत्र और उसकी पहुँच को बहुत बढ़ा दिया है।

जानबूझकर दूसरे देशों में प्रचार फैलाने और सर्वहारा वर्ग को सम्बोधित करने का मार्ग अपनाकर कम्युनिस्टों ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के कार्य-क्षेत्र को बहुत व्यापक बना दिया है। पुरानी कूटनीति के समय

में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध राज्यों की सरकारों के बीच होते थे। नयी कूटनीति में यह प्रयत्न किया जा रहा है कि इस प्रकार के संबंध सीधे जनता के साथ स्थापित किये जायें। जनवादी महिला संघ, शान्ति-मोर्चा, प्रगतिशील साहित्य की विविध संस्थाएँ, लोक नाट्य संघ आदि संगठनों के ढंग की विविध 'नव जनवादी' संस्थाएँ भी उन्हीं साधनों का एक अंग हैं जो इन नये अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की स्थापना के लिए काम में लायी जा रही हैं। इस प्रकार की कार्यवाहियाँ केवल सोवियत शिविर तक ही सीमित नहीं हैं। 'वाएस आफ़ अमेरिका' अपनी आवाज सीधे रूस, चीन तथा अन्य देशों के जन-साधारण तक पहुँचाकर उन्हें अमरीकी जीवन-पद्धति के पक्ष में करने का प्रयत्न करता है। "सांस्कृतिक" संगठन उन्मुक्त प्रयास का गुणगान करते हैं। इस प्रकार की कूटनीति किस हद तक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की एक स्थायी लाक्षणिकता बन गयी है इसका अनुमान इस तथ्य में लगाया जा सकता है कि अब प्रेस सहचारी (प्रेस अटाशे) और सूचना विभाग को राजदूत के कार्यालय का एक आवश्यक अंग माना जाता है। कुछ राजदूतावासों में 'सांस्कृतिक सहचारी' की विचित्र उपाधि से सुशोभित पदाधिकारी भी होते हैं। दूसरे देशों में संस्कृति का व्यापार करने का यह प्रयत्न कदाचित कुछ देशों द्वारा किये जानवाले सिद्धान्त-संबंधी प्रचार की ही एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के इस पहलू का जहाँ तक मुझे ज्ञान है, इसने राजदूतावासों का खर्च तो बहुत बढ़ा दिया है पर इससे राष्ट्रों के बीच सद्भावना को बढ़ान में कोई अधिक योग नहीं मिला है।

नयी कूटनीति का एक परिणाम यह हुआ है कि विभिन्न देशों की सरकारों के बीच जो पत्र-व्यवहार या वार्तालाप होता है उसकी भाषा में और बात कहने के ढंग में परिवर्तन आ गया है और इसका सीधा-सीधा कारण यह है कि यह कूटनीति सर्वसाधारण के मत पर अधिकाधिक निर्भर रहने लगी है। जिसे परिष्कृत कूटनीति कहा जाता है उसमें यह पत्र-व्यवहार विशेष प्रकार की अत्यन्त शिष्ट भाषा में होता

भा। कूटनीति पर अपनी श्रेष्ठ रचना में श्री हैरोल्ड निकल्सन^१ ने कई ऐसे वाक्यांश दिये हैं जिनसे पता चलता है कि कठोर से कठोर रवैये को भी किस प्रकार शिष्ट भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। “सम्राट् की सरकार इस बात पर चिन्ता या गहरी चिन्ता प्रकट करती है” का आशय यह होता है कि “सम्राट् की सरकार कड़ी कार्रवाई करने का इरादा रखती है।” जब यह कहा जाता है कि “सरकार अपनी स्थिति पर पुनर्विचार करने को बाध्य होगी” तो उसका आशय यह होता कि “शीघ्र ही मित्रता बदलकर शत्रुता का रूप धारण करनेवाली है।” जब कोई राजदूत “संकोच प्रकट करता है” तो उसका अर्थ होता है कि उसकी सरकार सहमत नहीं है। जब राजदूत यह कहता है कि उसकी सरकार “उन्मुक्त रूप से कोई भी कदम उठाने का अधिकार रखती है” तो यह लगभग इस बात की धमकी होती है कि किसी नीति विशेष के परिणाम को निष्क्रिय कर देने के लिए उचित कार्रवाई पर विचार किया जा रहा है। यह सब शिष्टाचार की भाषा थी और जिन लोगों को इस भाषा से सम्बोधित किया जाता था वे इसे पूरी तरह समझते थे। परन्तु जब सम्बोधन सर्वसाधारण से किया जाये तो स्पष्टतः यह भाषा अपर्याप्त होती है। यदि कोई राजदूत केवल इतना कहे कि वह “संकोच प्रकट करने पर” अपने आपको बाध्य समझता है तो आम जनता यह नहीं समझेगी कि सरकार ने अपनी अस्वीकृति पर्याप्त दृढ़ता के साथ प्रकट की है। फलस्वरूप नयी कूटनीति अपने प्रतिरोधों को चिल्ला-चिल्लाकर व्यक्त करने, किसी न किसी बात पर “दृढ़तापूर्वक” अड़े रहने और सामान्यतः अशिष्ट भाषा का प्रयोग करने में विश्वास रखती है। कूटनीति की भाषा, विशेषतः संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे सार्वजनिक मंचों पर, गाली-गलौज की भाषा बन गयी है क्योंकि वास्तव में वक्ता बहुधा अपने प्रतिरोधी को नहीं बल्कि अपने देश की जनता को और दूसरे देशों में अपने समर्थकों को सम्बोधित करता है।

यह परिवर्तन हमें कितना ही अरुचिकर क्यों न लगे परन्तु इस

बात पर जोर देना आवश्यक है कि इसका कारण यह नहीं है कि कूटनातञ्ज स्वयं असम्य या अशिष्ट मनोवृत्ति के हो गये हैं बल्कि इसका कारण यह है कि पुरानी कूटनीति की परिपाटी छिन्न-भिन्न हो गयी है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, पुरानी कूटनीति सरकारों की पारस्परिक वार्ता का मामला था। यह राज्य-व्यवस्थाओं का आपसी मामला था और यह काम अत्यन्त शिष्टाचार और सद्व्यवहार के साथ सम्पन्न किया जाता था। हाल ही के एक उदाहरण से पता लग जायेगा कि किस हद तक इस बात का ध्यान रखा जाता था। कहा जाता है कि पिछले महायुद्ध के दौरान में जब हर वान पापेन^१ तुर्की में जर्मन राजदूत थे, एक बार वह कहीं बत्तखों के शिकार को गये। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर सोवियत और ब्रिटिश राजदूत भी इसी आमोद-प्रमोद में व्यस्त थे, पर वे दिखायी नहीं पड़ रहे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अनजाने में हर वान पापेन ने कुछ बत्तखें मारी जो दूसरे शिकारियों के निशाने के क्षेत्र में थीं और बाद में जब उन्हें यह मालूम हुआ तो वह इतने परेशान हुए कि उन्होंने एक निष्पक्ष राजदूत की मारफत शत्रु देशों के इन राजदूतों से औपचारिक रूप से क्षमा-याचना की। यह शिष्टाचार पुरानी कूटनीति के लिए उचित था और वास्तव में आशा भी इसीकी की जाती थी पर नयी कूटनीति में आम जनता इसे प्रायः विश्वासघात समझेगी। अनौपचारिक मेल-जोल के संबंध पुरानी कूटनीति के अभिन्न अंग थे और बहुधा कठिनाई के समय इससे मार्ग सुगम हो जाता था।

नयी कूटनीति में दोनों शिविरों के बीच ऐसे अनौपचारिक सम्पर्कों का सर्वथा वहिष्कार किया जाता है। संक्षेप में नयी कूटनीति का अर्थ यह है कि “राष्ट्रों के परिवार” की धारणा पर आधारित समस्त पुरानी परम्पराएँ नष्ट हो गयी हैं; यह धारणा योरोपीय प्रभुत्व के युग की एक विषिष्ट लाक्षणिकता थी। नया युग निश्चय ही अपनी कार्य-पद्धति, भाषा तथा शिष्टाचार की रचना करेगा।

कूटनीति के लक्ष्य

कूटनीति के लक्ष्य क्या हैं? इसका क्या कारण है कि प्रत्येक स्वतंत्र राज्य अब प्रायः संसार के हर देश में बहुत धन व्यय करके राजदूतावासों, दूतावासों (लीगेशन), कौंसुल-आवासों (कान्सुलेट), आयुक्तों तथा अन्य पदाधिकारियों की एक सुविस्तृत व्यवस्था रखना आवश्यक समझता है? उदाहरण के लिए, इसका क्या कारण है कि भारत का प्रतिनिधि सुदूर अर्जेंटाइना या आस्ट्रिया में रहे?

समस्त कूटनीतिक संबंधों का मूलभूत उद्देश्य अपने देश के हितों की रक्षा करना होता है। और हर राज्य का मूलभूत हित स्वयं अपनी सुरक्षा करना होता है। परन्तु इस सर्वोपरि लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार और अपने देशवासियों की रक्षा भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका ध्यान रखना कूटनीति का उद्देश्य है। आधुनिक कूटनीति ने दूसरे राष्ट्रों का सम्मान प्राप्त करने और आम तौर पर सद्भावना और पारस्परिक समझ-बूझ पैदा करने की एक अस्पष्ट-सी आशा के अधीन अपने देश की संस्कृति और जीवन-पद्धति का प्रचार करने का काम भी अपने वैध कृत्यों के ही एक अंग के रूप में अपने व्यापक कार्यक्षेत्र में सम्मिलित कर लिया है।

परन्तु इन छोटी-मोटी बातों को छोड़कर कूटनीति का काम मूलतः राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अखंडता की सुरक्षा करना है। राज्य की सुरक्षा को केवल सैनिक आक्रमण से ही खतरा नहीं होता, यद्यपि इतिहास में हमें बार-बार खतरे का यही एक चिर-परिचित रूप दिखायी देता है। आर्थिक क्षेत्र में दूसरे राज्यों के प्रवेश, राज्य के चारों ओर सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर किसी दूसरे राज्य के आधिपत्य, और स्वयं उस देश के भीतर किसी दूसरे राज्य

द्वारा राजनीतिक प्रभाव प्राप्त कर लेने आदि से भी उस राज्य की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा होता है। यह कूटनीति का कर्तव्य है कि वह सतर्क रहे और दूसरे राष्ट्रों की ऐसी नीतियों को निष्फल बनाये जो उसके अपने देश के विरुद्ध हों।

यह समझना कठिन नहीं है कि भूगोल का सुरक्षा से कितना गहरा संबंध है। चूँकि हर देश की भौगोलिक विशिष्टताओं में मूलतः कोई परिवर्तन नहीं आता इसलिए हर देश की वैदेशिक नीति के कुछ पहलू स्थायी होते हैं। वास्तव में यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वैदेशिक नीति भूगोल द्वारा निर्धारित होती है। कुछ दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह बात कितनी सत्य है। सुरक्षा के विचार से ब्रिटेन की वैदेशिक नीति का एक मूलभूत तथ्य यह रहा है कि उसने हमेशा डटकर इस बात का विरोध किया है कि उसके सामने का समुद्रतट किसी एक शक्ति के अधीन हो जाये। एडवर्ड 'तृतीय' के काल से लेकर आज तक ब्रिटेन ने योरपीय महाद्वीप के राज्यों द्वारा इस क्षेत्र को एक में मिलाने के हर प्रयत्न का यथाशक्ति विरोध किया है। इसी प्रकार, फ्रांस भी हमेशा से राइन नदी को अपनी सीमा मानता आया है और फ्रांसीसी राज्य का प्रधान चाहे राजा रहा हो, या सम्राट् या केवल राष्ट्रपति पर इस नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया है। कैथरीन महान' के विचारों की झलक आज तक सोवियत की नीति में मिलती है, उदाहरण के लिए, काले सागर के प्रवेश-मार्ग पर अपना नियंत्रण रखने और गरम पानी के समुद्रों में निकलने का मार्ग प्राप्त करने की उनकी इच्छा। हान वंश' के सम्राटों के समय से आज तक चीन की वैदेशिक नीति ने दूसरे राष्ट्रों द्वारा कोरिया और हिंद-चीन में अपना प्रभुत्व जमाने के प्रयत्नों का विरोध किया है।

भारत की परिस्थिति भी इससे भिन्न नहीं रही है। अंग्रेजों के शासन काल में भारत की एकता स्थापित होते ही भूगोल के अनिवार्य तथ्य अपना प्रभाव डालने लगे। भारत की सुरक्षा की दृष्टि से कुछ

क्षेत्रों का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया, जिन पर किसी अमैत्रीपूर्ण शक्ति का आधिपत्य हो जाने का अर्थ यह होता कि भारत की स्वतंत्रता और आजादी के लिए हमेशा एक खतरा बना रहता। मैं इस संबंध में केवल सिंगापुर, अंदमान द्वीपसमूह और अदन का उल्लेख करूँगा। यदि भारत अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना चाहता है तो वह सैनिक महत्त्व के इन केन्द्रों को किसी ऐसे राज्य के हाथ में नहीं जाने दे सकता जो आगे चलकर कभी उसके विरुद्ध हो जाये।

कूटनीति इन हितों का साधन करने के लिए क्या उपाय करती है? कूटनीति के उपायों पर मैं आगे चर्चा करूँगा। यहाँ केवल इतना बता देना काफी है कि किसी भी देश की वैदेशिक नीति का मुख्य उद्देश्य मित्रतापूर्ण देशों के साथ अपने संबंधों को दृढ़ बनाना और उन शक्तियों को निष्क्रिय कर देना होता है जो उसके प्रति वैमनस्य रखती हों। समझौते की वार्ता द्वारा हर देश अपने मित्र और सहायक बनाने का प्रयत्न करता है। ऐसी मित्रताएँ और संधियाँ कभी-कभी दोनों देशों के सामान्य हितों के परिणामस्वरूप स्थापित होती हैं, जैसे दोनों देशों को एक ही शक्तिशाली शत्रु से खतरा हो। परन्तु ऐसी दशा में भी, जब दो देश अपने हितों की समानता को स्वीकार करते हों, उनके बीच निश्चित दायित्वों के आधार पर संधि सम्पन्न कराने से पहले बहुत धैर्यपूर्वक और सावधानी के साथ कूटनीतिक कार्य करना आवश्यक होता है। जर्मन साम्राज्य की ओर से बढ़ते हुए खतरे का मुकाबला करने के लिए इंगलैंड, फ्रांस और रूस की त्रिराष्ट्र-संधि का इतिहास इसका एक श्रेष्ठ आधुनिक उदाहरण है। इसमें सामान्य हित स्पष्ट था। जर्मनी से समुद्र के रास्ते ब्रिटेन की और महाद्वीप पर फ्रांस की स्थिति को खतरा था और वह बाल्कन क्षेत्र में भी अपने पैर फैलाने का प्रयत्न कर रहा था जिसे रूसी अपना वैध प्रभाव-क्षेत्र समझते थे। पर इस सामान्य खतरे को केवल मान लेना ही इस बात के लिए काफी नहीं था कि उनमें अपने आप मित्रता स्थापित हो जाये। इससे कुछ ही वर्ष पहले फाशोदा

कांड' को लेकर ब्रिटेन और फ्रांस में युद्ध छिड़ते-छिड़ते रह गया था। स्याम में भी अंग्रेजों और फ्रांसीसियों का द्वेष उग्र रूप धारण कर चुका था। जहाँ तक रूस का संबंध था वह बहुत पहले ही से ब्रिटेन की वैदेशिक नीति के लिए एक हौआ बना हुआ था। इसके अतिरिक्त चीन, मध्य एशिया और ईरान में अंग्रेजों और रूसियों की प्रतिद्वन्द्विता स्थायी रूप धारण कर चुकी थी। पंजदेह की घटना' को अभी दस वर्ष भी नहीं हुए थे; इस घटना ने उस समय के कूटनीतिज्ञों को अत्यधिक आतंकित कर दिया था; रूसियों के साथ मिलकर षड़यंत्र रचने के अभियोग में काश्मीर के महाराजा प्रतापसिंह' से उनकी सत्ता छीन ली गयी थी और लार्ड कर्जन ने अधिकृत रूप से यह घोषणा कर दी थी कि बुरियात जाति के गियार्गिएफ नामक व्यक्ति की सहायता से जार ल्हासा में षड़यंत्र रच रहा था। कई वर्ष तक धैर्यपूर्वक कूटनीति से काम लेने के फलस्वरूप ये द्वेष मिट गये और त्रिराष्ट्र-संधि एक सफल सत्य के रूप में सामने आयी, यद्यपि इसके लिए स्याम और ईरान को भारी मूल्य चुकाना पड़ा।

अपने देश के हितों का विरोध करनेवाली शक्तियों को निष्क्रिय बनाना इसी नीति का दूसरा पहलू है। प्रथम महायुद्ध से पहले कुशल कूटनीति द्वारा जिस प्रकार इटली को जर्मन संधि से अलग कर लिया गया, वह इसका एक बहुत ही अच्छा उदाहरण है। अपने राष्ट्रीय हितों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली ने एक त्रिराष्ट्र-संधि की स्थापना की थी। फ्रांसीसियों और अंग्रेजों की कूटनीति ने इन मित्रों में फूट डालने का प्रयत्न किया। जब इटली ने तुर्की साम्राज्य के हितों की बलि देकर ट्रिपोली में अपना साम्राज्य फैलाने की महत्वाकांक्षा घोषित की तब फूट डालने का बहुत अच्छा अवसर मिल गया। तुर्की के सुल्तान के साथ जर्मनी की संधि थी इसलिए वह इटली के साथ सहानुभूति रखने में असमर्थ था; दूसरी तरफ फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने, जिन्होंने अफ्रीका में ओटोमैन साम्राज्य' के अपेक्षाकृत अधिक उपजाऊ क्षेत्रों, अर्थात् मिस्र और ट्यूनीशिया को आपस में बाँट

रखा था, अफ्रीका के शोषण में एक साझेदार के रूप में इटली का हार्दिक स्वागत किया। परिणाम यह हुआ कि अगस्त १९१४ में जब युद्ध की घोषणा हुई तो इटली ने तटस्थ रहने का फैसला किया और बाद में वह अपने भूतपूर्व मित्र के खिलाफ पश्चिमी राष्ट्रों की संधि में शामिल हो गया।

मूलतः किसी भी देश की वैदेशिक नीति का लक्ष्य यह होता है कि वह दूसरे राज्यों को अपने विरुद्ध संगठित न होने दे; इसका अर्थ यह हो सकता है कि उसे कुछ राज्यों के साथ समझौता करना पड़ता है, और कुछ राज्यों के साथ पक्षपात करना पड़ता है और यदि इस बात का भय हो कि उसकी सहायता और सहयोग को स्वयं उसके हितों के विरुद्ध या उसके प्रति अमैत्री का भाव रखनेवाले राज्यों के पक्ष में इस्तेमाल किया जा सकता है तो उसे सहायता या सहयोग देने से इंकार करना पड़ता है। यदि ये सब उपाय विफल सिद्ध हों और अन्त में बल का प्रयोग अनिवार्य हो जाये तो कूटनीति का यह काम होता है कि बल का प्रयोग सबसे लाभदायक परिस्थितियों में किया जाये और सारी दुनिया को यह विश्वास दिला दिया जाये कि हमारा ध्येय न्यायोचित है और हम केवल अपने अधिकारों की रक्षा कर रहे हैं।

कौरवों के दरबार में एक निश्चित उद्देश्य लेकर जाने के बारे में भगवान कृष्ण के कथन का उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ। भगवान कृष्ण ने कहा था कि यदि मैं उन्हें समझाने में असफल रहा तो मैं सारी दुनिया के सामने तुम्हारी निर्दोषता और उनके अपराध की घोषणा करूँगा। मैं सारी दुनिया को यह बात जता दूँगा कि तुम केवल अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे हो, जिसे आधुनिक शब्दावली में हम इस प्रकार कहेंगे कि तुम आक्रमणकारी नहीं हो। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में यह पता लगाना कभी आसान नहीं होता है कि आक्रमणकारी कौन है और कौन नहीं। इतिहास में बहुत कम उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें किसी

संघर्ष में भाग लेनेवाले दोनों पक्षों ने यह दावा न किया हो कि उन्हें अपनी रक्षा के लिए युद्ध करने पर बाध्य होना पड़ा। संसार उनके इस दावे को स्वीकार करता है या नहीं, यह बात पूरी तरह कूटनीति की सफलता या असफलता पर निर्भर होती है। पाण्डवों के मामले में भगवान् कृष्ण की कूटनीति पूरी तरह सफल रही, यहाँ तक कि कौरवों के सेनानायकों में भी फूट पड़ गयी। पहले महायुद्ध के दौरान में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की श्रेष्ठ कूटनीति ने पूरी दुनिया को प्रायः यह विश्वास दिला दिया कि राष्ट्रीय हितों का वह युद्ध वास्तव में युद्धों का अन्त करनेवाला युद्ध था, सम्यता को बचानेवाला युद्ध था, समाज को फिर वर्बर होने से रोकनेवाला युद्ध था।

कौटिल्य ने बहुत ठीक कहा है : “जब युद्ध और शान्ति से समान लाभ होने की आशा हो तो शान्ति का पथ चुनना चाहिये क्योंकि युद्ध में सदैव सत्ता या सम्पदा की हानि का भय रहता है। इसी प्रकार यदि तटस्थता और युद्ध से समान लाभ होने की आशा हो तो तटस्थता का मार्ग अपनाना चाहिये।” नीति-संचालन के साधन के रूप में युद्ध को, अर्थात् बल के प्रयोग को, न तो कौटिल्य के समय में ही वहिष्कृत समझा जाता था और न आज ही समझा जाता है। वास्तव में युद्ध को सदैव नीति का ही एक क्रम माना गया है, जिसका प्रयोग उस समय किया जाता है जब और सब उपाय असफल हो गये हों और शस्त्रास्त्रों के प्रयोग द्वारा निर्णय कर लेने के लिए परिस्थिति अनुकूल प्रतीत हो। दंड चौथा उपाय है, जिसका प्रयोग अन्य सभी उपायों के विफल हो जाने पर किया जाना चाहिये। राज्यों के बीच बल का प्रयोग स्पष्टतया कई बातों पर निर्भर करता है, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण यह अनुमान लगाना है कि बल-प्रयोग कितनी सफलता के साथ किया जा सकता है। छोटे राज्य, जिनकी सेना रण-कौशल में निपुण न हो, या बड़े राज्य भी जिनकी वित्तीय दशा शोचनीय हो या जिनके राज्य में गृहयुद्ध की आग भड़क रही हो, बल का प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। कमजोर राज्य मित्र ढूँढता

है, कूटनीतिक उपायों से अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाता है और अपने लिए अनुकूल परिस्थितियों की रचना करता है। एक छोटे-से और सैनिक दृष्टि से नगण्य राज्य ने सुनिश्चित उद्देश्यों को लेकर दीर्घकाल तक सफल कूटनीति का पालन करके किस प्रकार एक महान राष्ट्र के विरुद्ध अपना लक्ष्य प्राप्त किया, इसका एक शानदार उदाहरण योरप के इतिहास में मिलता है; वह है सैवाय का उस समय का उदाहरण जब वहाँ के प्रधान मंत्री कैबूर थे। पिछली शताब्दी के मध्य में सैवाय का राज्य^१ योरप के सबसे छोटे राज्यों में से था। उसने अपने सामने यह लक्ष्य रखा था कि इटली के प्रायद्वीप में आस्ट्रियाई साम्राज्य का प्रभुत्व नष्ट कर दिया जाये। कैबूर जानता था कि वह अकेले हैप्सबर्ग-वंश^१ की शक्ति को चुनौती देने की स्थिति में नहीं था। उसने आस्ट्रिया के विरुद्ध दूसरे राज्यों को अपना मित्र बनाने और जो राज्य सक्रिय रूप से मित्र न बन सकें उनकी सहानुभूति प्राप्त करने का लक्ष्य अपने सामने रखा। उसने क्रीमिया के युद्ध में लड़ने के लिए अपनी सेना भी भेजी, यद्यपि रूस के साथ सैवाय का कोई बैर नहीं था। इस प्रकार चारों ओर से सुरक्षित होकर और फ्रांस की सक्रिय सहायता का आश्वासन पाकर वह आस्ट्रिया को चुनौती दे सका और अन्ततः अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हुआ।

सफल कूटनीति के बिना न तो युद्ध छेड़े जा सकते हैं और न उनमें विजय ही प्राप्त की जा सकती है। युद्ध से पहले अदूरदर्शी कूटनीतिक तैयारियाँ और युद्ध के दौरान में अप्रभावोत्पादक कूटनीति अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्रों की भी पराजय और उनके विनाश का कारण बन जाती है।

परन्तु इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि किसी भी देश की कूटनीति की सफलता, बहुत बड़ी हद तक, उसकी आन्तरिक शक्ति पर निर्भर होती है। यदि किसी राज्य में आये-दिन गृहयुद्ध छिड़ा रहता हो या वह आर्थिक दृष्टि से दीवालिया हो तो उसकी कूटनीति की कार्यविधि

कितनी ही कुशल क्यों न हो और उसके कूटनीतिज्ञ कितने ही योग्य क्यों न हों, वह कभी सफल नहीं हो सकती। यदि किसी राज्य में, चाहे उसे 'बड़ी शक्ति' ही क्यों न माना जाता हो, बार-बार सरकारें बदलती रहें, उसकी नीति पलटती रहे और आन्तरिक दुर्बलता के कारण वह कोई भी कदम उठाने से पहले बहुत संकोच करे, तो उस पर से दूसरे देशों का विश्वास उठ जायेगा और उसी परिमाण में उसकी कूटनीति का प्रभाव भी कम हो जायेगा। उसके राजदूतों के वादों को खुलकर स्वीकार नहीं किया जायेगा; उसके सुझावों को सतर्कता की दृष्टि से देखा जायेगा और उसके मैत्री अथवा सहयोग के प्रस्ताव पर कोई उत्साह पैदा नहीं होगा; और दूसरी ओर उसके असंतोष और प्रतिरोधों को कोई महत्त्व नहीं दिया जायेगा। हर देश की वैदेशिक नीति में उसकी आन्तरिक शक्ति और उसका स्थायित्व प्रतिबिम्बित होना चाहिये। इस बात को सिद्ध करने के लिए मुझे यहाँ उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं।

अभी तक हमने कूटनीति के राजनीतिक पहलुओं पर विचार किया है। परन्तु आधुनिक काल में किसी भी राज्य के लक्ष्य पूर्णतः राजनीतिक या सैनिक महत्त्व के नहीं होते, यद्यपि ये लक्ष्य तो हमेशा सर्वोपरि महत्त्व के रहेंगे और अन्य सभी बातें इनके सामने गौण महत्त्व की होंगी। आज राजनीतिक लक्ष्यों को छोड़कर मुख्य लक्ष्य आर्थिक तथा व्यावसायिक हैं। उन राज्यों में जिन्हें पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति वाले राज्य कहा जा सकता है, इन लक्ष्यों के अन्तर्गत ये सभी बातें आ जाती हैं: मंडियों की खोज, जिन इलाकों में उस राज्य ने व्यापार अथवा उद्योग के क्षेत्र में अपने पाँव जमा लिये हों वहाँ उसके हितों की रक्षा करना, व्यापारिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना, आर्थिक जानकारी प्राप्त करना तथा ऐसी अन्य सभी वैध कार्यवाहियाँ जिससे अपने देश के हितों को प्रोत्साहन मिले। पिछले तीस वर्षों में व्यावसायिक कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक सबसे सक्रिय अंग बन गयी है। व्यक्तिगत व्यापारियों के मामलों में सरकार द्वारा हस्तक्षेप न करने की नीति

तथा स्वतंत्र व्यापार की पद्धति का अन्त हो जाने से और फलस्वरूप राष्ट्रगत अर्थतन्त्र पर अधिक जोर बढ़ जाने के कारण हर राज्य इस नतीजे पर पहुँच गया है कि राजनीतिक प्रश्नों में व्यापार को एक मुख्य साधन के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। पहले महायुद्ध के बाद जर्मन सरकार ने मोल-तोल की एक सुनियोजित पद्धति द्वारा मध्य योरोप और बाल्कन क्षेत्र में अपना बहुत बड़ा व्यावसायिक साम्राज्य खड़ा कर लिया था। सैनिक कामों के लिए कच्चा माल जुटाने और शत्रु को इस माल से वंचित रखने, इन दोनों ही उद्देश्यों से युद्ध के दौरान में यह पद्धति अपनी चरम सीमा को पहुँचा दी गयी। युद्ध के बाद आर्थिक कूटनीति को और भी विकसित किया गया है, विशेषतः दो दिशाओं में: पहले तो शीत-युद्ध की एक कूटयुक्ति के रूप में और दूसरे उन देशों के आर्थिक ढाँचे को ढालने के लिए जो राजनीतिक पराधीनता से निकलकर स्वतंत्र हो गये थे। पहली बात के विषय में तो कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। यह तो सभी जानते हैं कि राजनीतिक कार्रवाई की धमकियों के साथ पूर्व और पश्चिम के देशों के बीच व्यापार पर जो कड़े प्रतिबंध लगा दिये गये हैं वे शीत-युद्ध का ही एक अंग हैं; यह शत्रु को सैनिक महत्त्व के माल से वंचित रखने का प्रयत्न है। दूसरी बात, अर्थात् दूसरे देशों के आर्थिक ढाँचे को ढालने के प्रयत्न के बारे में, कुछ कहना आवश्यक है। एशिया के देशों ने अपने आपको औद्योगिक देश बनाने और अपने आर्थिक जीवन के ढर्रे को आम तौर पर बदल देने के दृढ़ निश्चय की घोषणा की है; इन देशों में चीन भी शामिल है जो उस अवस्था से बाहर निकल आया है जिसे अर्ध-औपनिवेशिक या औपनिवेशिक अवस्था कहा जाता था। उद्योगीकरण अन्य चीजों के अतिरिक्त, मशीनें बनाने-वाली मशीनों पर निर्भर करता है और इसीलिए बड़े-बड़े औद्योगिक देश, जिनसे ही ये मशीनें प्राप्त हो सकती हैं, इस स्थिति में हैं कि वे राजनीतिक तथा आर्थिक सुविधाओं, पूँजी लगाने के लिए लाभदायक सत्तों और व्यापार की स्वतंत्रता आदि के लिए सौदेबाजी कर सकें।

कोटे, लाइसेंस, मुद्रा-नियंत्रण तथा व्यावसायिक आदान-प्रदान की अन्य विधियाँ अब कूटनीति के प्रचलित साधन बन गयी हैं।

व्यावसायिक कूटनीति को कितना अधिक महत्त्व दिया जाता है इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि ब्रिटेन के विदेश मंत्रालय में व्यावसायिक समस्याओं के लिए एक नये पद की स्थापना करनी पड़ी, जिसका महत्त्व स्थायी अंडर सेक्रेटरी आफ़ स्टेट (यह पद उप-मंत्री के पद के बराबर होता है) के पद से कुछ ही कम था। अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार करने के काम में आजकल वाणिज्य सहचारी (कमर्शियल अटार्ने) और व्यापार आयुक्तों (ट्रेड कमिश्नर) को कूटनीतिक मंडलों का एक अनिवार्य अंग माना जाता है। चूँकि अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर मुख्यतः राज्य का नियंत्रण है और हर देश अपने अर्थतंत्र के अनुकूल व्यापारिक पद्धति स्थापित करने को उत्सुक है, इसलिए यह बात स्पष्ट है कि केवल उचित कूटनीतिक वार्ता द्वारा ही व्यापार को प्रोत्साहन मिल सकता है। इस काम के संबंध में उठने-वाले प्रश्नों के विशिष्ट स्वरूप के कारण यह आवश्यक हो गया है कि इसके प्रतिदिन के कार्य-कलाप और इसकी बारीकियों पर ऐसे लोगों का नियंत्रण हो जो इस विषय के विशेषज्ञ हों और वे राजदूत या तत्संबंधी मंत्री के आम नियंत्रण और निगरानी में काम करें। आधुनिक कूटनीति ने जो नये व्यापारिक और आर्थिक उद्देश्य बनाये हैं उन्हें पूरा करने के लिए पुराने उप-राजदूतावासों से भिन्न एक विशेष व्यवस्था का संगठन करना पड़ा।

युद्ध के बाद की एक और नयी बात, मुख्यतः एशिया में, वह है जिसे खाद्य कूटनीति कह सकते हैं। चूँकि दुनिया में कुल मिलाकर चावल की कमी है इसलिए चारों तरफ़ इस बहुमूल्य सामग्री की बहुत माँग है। कई देशों को, जिनमें ब्रिटेन और भारत भी शामिल हैं, अपनी जनसंख्या का पेट भरने के लिए विदेशों से अन्न मँगाना पड़ता है। स्वतंत्र व्यापार के पुगने गौरवशाली युग में इसमें कोई गंभीर कठिनाई नहीं होती थी और

व्यापार के प्रकृत माध्यमों द्वारा इसका व्यापार भी अन्य किसी व्यापार की ही तरह किया जाता था। अब उत्पादक देश अपनी ही शर्तों पर माल बेचते हैं और बहुत लम्बी बातचीत के बिना, जिसमें बहुधा दूसरे राष्ट्र भी हस्तक्षेप करते हैं, आवश्यक खाद्य-सामग्री प्राप्त करना संभव नहीं है। खाद्यान्न के लिए बर्मा, स्याम, चीन और संयुक्त राज्य अमरीका के साथ स्वयं हमारी और अर्जेंटीना के साथ ब्रिटेन की जो वार्ता हुई उससे पता चलता है कि यह समस्या कितनी जटिल है, और किस प्रकार बहुधा यह पूर्णतया राजनीतिक समस्याओं पर अपना प्रभाव डालती है।

परन्तु कुछ भी हो, कूटनीति आज भी मुख्यतः राजनीतिक संबंधों का प्रश्न है और इसका मुख्य लक्ष्य राज्य के स्थायी हितों का साधन करना है। यदि हम इन स्थायी हितों की उपेक्षा करें या क्षणिक अथवा अस्थायी लाभ के लालच में उनकी बलि दे दें तो हम बहुत बड़ा खतरा मोल ले लेंगे। इसी दृष्टि से सर्वसाधारण का मत कूटनीति के लिए बहुत खतरनाक होता है। अमरीकी नीति का गूढ़ विश्लेषण करते हुए श्री जार्ज केन्नन^१ ने जोर देकर कहा है — “हमारी सरकार का कार्याग जिस बड़ी हद तक अपने आपको जनमत की अल्पकालीन प्रवृत्तियों को मानने पर बाध्य समझता है और वैदेशिक नीति के प्रश्नों के बारे में जनता के रवैये का जो भ्रान्त और स्वगत स्वरूप है, इन्हीं के कारण हमारी बहुत काफी मुसीबतें पैदा हुई हैं।” अमरीका के सार्वजनिक जीवन का जो ढर्रा है वह कदाचित इस कमजोरी को और उभार देता है। परन्तु दूसरे देशों में भी परम्परागत पूर्व-धारणाओं और भावनाओं पर आधारित जनता की प्रतिक्रियाओं के कारण उन राज्यों के स्थायी हितों का दृढ़तापूर्वक साधन करने में बाधा पड़ती है। इस कथन की पुष्टि के रूप में हमारे देश के पिछले कुछ काल के कूटनीतिक इतिहास के प्रति जनता की प्रतिक्रिया के कुछ दृष्टान्त अनायास ही हमारे मस्तिष्क में उभर आते हैं।

एक चीज जो कूटनीति का विषय कदापि नहीं है, वह है दूसरों के बारे में नैतिक निर्णय देना या दूसरे राष्ट्रों को सुधारना। दुनिया के सभी राष्ट्रों का शासन एक ही ढंग से नहीं होता है और न उनके राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक दृष्टिकोण ही समान होते हैं। राजतंत्र, गणतंत्र, एकाधिकार सत्ताएँ, लोकतंत्र, नये और पुराने साम्यवादी राज्य — सभी प्रकार की शासन-पद्धतियाँ संसार में पायी जाती हैं और सभी वैध रूप से स्थापित हैं तथा अपने-अपने देश में सफलतापूर्वक शासन कर रही हैं। बहुधा उनके सामाजिक आदर्श, आर्थिक पद्धतियाँ और राजनीतिक सिद्धान्त भिन्न होते हैं और उनमें से हर एक यह विश्वास करती है कि उसका मार्ग ही सबसे अच्छा है। स्पेन में फ्रैंको सरकार फ़ैलेंग' के सामाजिक आदर्शों और राजनीतिक विचारों को मानती है। चीन को "जन लोकतंत्र" कहा जाता है। इंग्लैंड एक संवैधानिक राजतंत्र है जो लोकतंत्र के रूप में काम करता है, पर यह परिभाषा अबीसीनिया या सऊदी अरब पर पूरी नहीं उतरती। राज्यों के आन्तरिक संविधान कुछ भी हों, पर यदि उनकी सरकारों में स्थायित्व है तो उनमें कूटनीतिक संबंध अवश्य होने चाहिये। यदि कूटनीतिक संबंध स्थापित करने या उन्हें जारी रखने से पहले हम दूसरों पर अपने नैतिक तथा राजनीतिक मानदंडों पर पूरा उतरने की शर्त लगायें तो कूटनीति ही असंभव हो जायेगी।

चूँकि कूटनीति का उद्देश्य स्वयं अपनी सुरक्षा करना और अपने अधिकारों पर जमे रहना है, इसलिये यह बात स्वतः स्पष्ट है कि मूलतः इसका आधार आदान-प्रदान पर होना चाहिए। जिसे हम अन्तिम सत्य समझते हैं यदि उस पर हमने कूटनीति को आधारित किया तो उसका विफल होना निश्चित है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कूटनीतिज्ञ अपने कथनों में बहुधा उच्च नैतिकता और सदाचार की भाषा का प्रयोग नहीं करते। वास्तव में सर्वव्यापी शान्ति, जातियों के स्वतंत्रता के जन्मसिद्ध अधिकार, वचन का पालन आदि बहुमूल्य सुकथनों द्वारा

अपने हित को न्यायसंगत ठहराना जितना स्वाभाविक कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में मालूम होता है उतना राजनीतिक जीवन के किसी दूसरे क्षेत्र में नहीं। यदि किसी शक्तिशाली राष्ट्र को स्थिति ज्यों की त्यों बनाये रखने में दिलचस्पी हो या यदि किसी कमजोर देश को अपने पड़ोसी देशों से भय हो तो दोनों ही स्वाभाविक रूप से सर्वव्यापी शान्ति के ध्येय की दुहाई देकर अपने हितों को न्यायसंगत ठहराने का प्रयत्न करेंगे। जो राज्य यह अनुभव करते हैं कि उनके पास जगह की बहुत कमी है या दूसरे राज्यों ने उनके हितों को बहुत अनुचित ढंग से संकुचित कर दिया है, वे जातियों के आत्म-निर्णय, सभ्यता के वरदानों को फैलाने के अधिकार, सबसे बलिष्ठ के ही जीवित रहने के अकाट्य नियमों, आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा करने की आवश्यकता आदि जैसे लम्बे-चौड़े नारे देकर अपने हितों को न्यायसंगत ठहराते हैं। गहरी छानबीन करने पर पता लगता है कि नैतिक न्यायपरायणता की इस भाषा के पीछे कोई वैध राष्ट्रीय हित छुपा होता है जिसे सबके सामने खुलकर प्रकट करने में संकोच होता है। जब कोई कूटनीतिज्ञ या राजनेता किसी महान सर्वमान्य सूत्र का प्रतिपादन करे तो आम तौर पर अपने मन में यह प्रश्न उठाना एक अच्छा सिद्धान्त है कि वह वास्तव में कहना क्या चाहता है। बीते हुए काल की राष्ट्रीय नीतियों के पीछे छुपे हुए आर्थिक या अन्य उद्देश्यों का पता लगाने का तरीका तो इतिहासज्ञों को मालूम है, परन्तु चूँकि इतिहासज्ञ आम तौर पर समकालीन समस्याओं पर विचार नहीं करते इसलिए कूटनीतिज्ञ और राजनेता जिन नारों और सिद्धान्तों का प्रयोग करते हैं उन पर उतनी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार नहीं किया जाता।

चूँकि कूटनीति का उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना है इसलिए इस कथन में बहुत सत्य है कि कूटनीतिज्ञ का काम सद्भावना स्थापित करना और उसे सभी उपलब्ध साधनों से बढ़ाना है। जिस देश में वह नियुक्त किया गया हो, यदि वह देश मैत्री की प्रवृत्ति रखता हो,

या कम से कम उसके कोई विरोधी हित न हों, तो अपने देश के प्रति सद्भावना बढ़ाने से राष्ट्र की मर्यादा बढ़ती है और अपने हितों को सुरक्षित रखने में सहायता मिलती है। बहुधा लोग इस बात को भूल जाते हैं कि संधियाँ और समझौते भी हितों और सद्भावना दोनों ही पर आधारित होने चाहिये। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आज जर्मनी और फ्रांस के हितों में समानता है परन्तु उनके बीच मित्रता उसी समय संभव हो सकती है जब दोनों देशों की जनता की वर्तमान मनोदशा को दूर करने और उनके बीच एक दृढ़ सद्भावना उत्पन्न करने के लक्ष्य को सामने रखकर कई वर्ष तक धैर्यपूर्वक कूटनीतिक काम किया जाये। यदि उनकी मित्रता के लिए यह पृष्ठभूमि तैयार न कर ली गयी तो पहली बाधा उत्पन्न होते ही यह मित्रता भंग हो जायेगी।

इंग्लैंड और फ्रांस की मैत्री इस बात का एक अच्छा उदाहरण है कि कूटनीति द्वारा किस प्रकार परम्परागत झगड़ों और वैमनस्य को मिटाकर इन दोनों राष्ट्रों के बीच दृढ़ मित्रता की स्थापना की गयी और उनकी सरकारों के बीच ऐसी संधि हुई जो पचास वर्षों से अविच्छिन्न रूप से कायम है। राजनीतिक समस्याओं पर दृष्टि रखनेवाले व्यक्तियों में, जिन्हें पिछले तीन सौ वर्षों या इससे भी अधिक काल के दौरान में आँग्ल-फ्रांसीसी संबंधों का कुछ भी ज्ञान था और जो फासोदा की घटना की प्रतिक्रिया या दुनिया के दूसरे भागों में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की प्रतिद्वन्द्विता देख चुके थे, शायद ही कोई ऐसा रहा हो जो उस समय यह कह सकता हो कि आगे चलकर दस-बारह वर्ष की छोटी-सी अवधि में इंग्लैंड और फ्रांस के संबंध घनिष्ठ मित्रता पर आधारित हो जायेंगे, फ्रांस अंग्रेजों के विश्वासघात को भुला देगा या इंग्लैंड फ्रांसीसी महत्वा-कांक्षाओं को संदेह की दृष्टि से देखना छोड़ देगा। कूटनीति की यह एक महानतम सफलता थी कि उसने वह सद्भावना उत्पन्न की जिसके आधार पर ही इस मैत्री के भव्य प्रासाद का निर्माण किया जा सकता था। इससे भी बाद का एक उदाहरण यूनान और तुर्की का है। मुश्किल

से ३० वर्ष हुए एशिया के महाद्वीप पर अपना साम्राज्य फैलाने की महत्वाकांक्षा लेकर यूनानी सेना ने एशियाई कोचक में प्रवेश किया जहाँ मुस्तफा कमाल अतातुर्क^१ ने देखते-देखते बड़ी तेजी से लड़ाई में उसे नष्ट कर दिया। स्मर्ना का महान नगर जलाकर राख कर दिया गया और यूनानी, जो इतिहास के आदिकाल से एशियाई कोचक के तटवर्ती प्रदेशों में रहते आये थे, अपनी मातृभूमि छोड़कर यूनानी राज्य की भूमि पर शरणार्थियों का जीवन व्यतीत करने लगे। यूनानियों और तुर्कों की शत्रुता पाँच सौ से अधिक वर्षों से चली आती थी इसलिए ऐसा प्रतीत होने लगा कि उनके बीच इस अन्तिम दुःखद संघर्ष के कारण उनके संबंध और भी कलुषित हो जायेंगे। परन्तु आज एक दूसरे के हितों को मान लेने के फलस्वरूप वे ऐसी सद्भावना उत्पन्न कर सके हैं कि उनके बीच मैत्री की संधि स्थापित होना उचित ही है।

जिस देश से आगे चलकर शत्रुता का भय हो उसमें भी सद्भावना उत्पन्न करने की चेष्टा करना कूटनीति का कर्तव्य है। संभव है कि वहाँ की सरकार को उसकी दृढ़ नीति से विचलित न किया जा सके और उसे उन सुनिश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करने से रोका न जा सके जो किसी दूसरे देश के हितों के विरुद्ध हों, परन्तु न तो किसी देश का संगठन इतना एकाकार होता है और न ही किसी देश की सरकार को अपने देश में इतनी सर्वव्यापी मान्यता ही प्राप्त होती है कि ऐसे दलों के लिए कोई स्थान ही न रह जाये जो उसकी नीति को ईमानदारी से गलत समझते हों या जो सत्तारूढ़ व्यक्तियों से असंतुष्ट हों। इसलिए अपने देश के प्रति सद्भावना उत्पन्न करना हमेशा संभव होता है। लार्ड टेम्पलवुड^१ ने, जिन्हें हम सर सैमुएल होर के नाम से ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं, उस काल के अपने संस्मरणों में जब वह युद्ध के दौरान में फ़ैलेंगवादी स्पेन में ब्रिटेन के राजदूत थे इस बात का रोचक चित्रण किया है कि किस प्रकार उन्होंने उन दलों में, जो या तो फ़्राँको के शासन के विरुद्ध थे या सक्रिय रूप से उसका समर्थन नहीं

कर रहे थे, ब्रिटेन के प्रति सद्भावना उत्पन्न करने के लिए काम किया। स्मरण रहे कि सर सैमुएल होर ऐसे समय पर स्पेन में राजदूत नियुक्त किये गये थे जब स्पेन स्पष्टतः हिटलरी जर्मनी के उद्देश्यों के साथ दृढ़ रूप से सम्बद्ध था। सर सैमुएल होर ने देखा कि उनके साथ पूर्ण असहयोग बरता जा रहा है और कई बार उनका अपमान भी किया गया। स्पेन में जर्मनी की साख उस समय सबसे ज्यादा थी, फिर भी धीरे-धीरे बड़ी सावधानी से काम करते हुए उन्होंने बहुत-से लोगों के हृदय में, जिनमें कई कट्टर फैलेंगवादी भी थे अपने प्रति मित्रता की भावना उत्पन्न कर ली।

मैंने ये उदाहरण केवल यह बताने के लिए दिये हैं कि सद्भावना उत्पन्न करना स्वतः एक ऐसा लक्ष्य है जिसे कूटनीतिज्ञों को ध्यान में रखना चाहिये, क्योंकि अपने राज्य की सुरक्षा और उसके हितों का साधन करने का उनका जो सर्वोपरि उद्देश्य है उसे प्राप्त करने में इससे सहायता भी मिल सकती है और इसके अभाव में उस उद्देश्य को क्षति भी पहुँच सकती है। इतिहास में ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते हैं जिनमें जो सद्भावना विद्यमान थी या परम्परागत चली आ रही थी वह भी बुरी कूटनीति के फलस्वरूप धीरे-धीरे क्षीण होती गयी; या उपलब्ध अवसरों का लाभ न उठा सकने के कारण राज्यों के आपस के खराब संबंध और भी खराब हो गये। इसलिए मानव-संबंधों के अन्य सभी क्षेत्रों की तरह मूलतः कूटनीतिज्ञ का भी कर्तव्य अपने देश की मर्यादा की रक्षा करना, उसके लिए सम्मान प्राप्त करना और उसके प्रति सद्भावना उत्पन्न करना होता है।

साधन और उपाय

कूटनीति के लक्ष्य भली भाँति निर्धारित कर लेने और उन्हें प्राप्त करने के लिए सुसंगठित व्यवस्था स्थापित कर लेने के बाद भी वांछनीय फल बहुत-कुछ इस पर निर्भर करता है कि इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किन साधनों और उपायों का प्रयोग किया जाता है। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ अपने देश की नीतियों को ज्यादा अच्छी तरह समझा-कर, उसके लिए सम्मान प्राप्त करके, दूसरे राष्ट्रों के न्याय्य हितों को स्वीकार करके और सबसे बढ़कर ईमानदारी के व्यवहार द्वारा ही अपने देश के प्रति सद्भावना उत्पन्न की जा सकती है, क्योंकि मानव-संबंधों के अन्य क्षेत्रों की तरह कूटनीति में भी हम न्यायपरायणता और सत्य आचरण द्वारा ही सच्चा सम्मान प्राप्त कर सकते हैं। चालबाजी की कूटनीति से शायद ही किसी देश को अपने लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता मिलती हो। इसलिए कूटनीति के उपाय बहुत महत्त्व रखते हैं।

कूटनीति का उद्देश्य चूँकि अपने देश के मूल हितों की रक्षा करना होता है इसलिए कूटनीतिज्ञ को हमेशा यह ध्यान रखना पड़ता है कि जिस व्यक्ति से उसे काम पड़ता है वह भी अपने देश के लिए ठीक वही उद्देश्य ध्यान में रखकर काम करता है। अतएव जिन लोगों से उसे काम पड़ता है वे निपुण और अनुभवी लोग होते हैं जो अपने प्रतिरोधी की शक्ति और उसकी कमजोरी दोनों ही से भली भाँति परिचित होते हैं। उदाहरणार्थ, जब देश 'क' का राजदूत देश 'ख' के विदेश मंत्री से वार्ता करता है तो उसके सम्मुख एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसका उद्देश्य अपने देश के हितों की रक्षा करना और यदि संभव हो तो उन्हें और आगे बढ़ाना होता है, जो कम से कम देकर ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करने

का प्रयत्न करता है। इसलिए हमेशा प्रश्न हितों में सामंजस्य पैदा करने, कुछ देकर कुछ प्राप्त करने, एक संतुलन स्थापित करने अथवा समझौता करने का होता है। 'यदि कुछ मिले नहीं तो कुछ दो भी नहीं'— यह मोल-तोल का नियम है; यदि कुछ प्राप्त करना है तो कुछ देना भी पड़ेगा। दी जानेवाली वस्तु कुछ भी हो सकती है— भविष्य में सहायता का वचन, किसी कार्यनीति विशेष में परिवर्तन, किसी दूसरे क्षेत्र में मित्रतापूर्ण लाभ; परन्तु यह निश्चित है कि कोई भी देश उस समय तक अपने हितों को रत्ती भर भी त्यागने पर तैयार न होगा जब तक उसे बदले में कुछ मिले नहीं। कूटनीति 'इस हाथ दे उस हाथ ले' का सवाल है।

'इस हाथ दे उस हाथ ले' की नैतिकता पर बहस करना अनावश्यक है परन्तु यह पुरानी कहावत कि 'ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है' सदाचार की दृष्टि से भले ही बुरी हो, पर कूटनीति की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। यह एक अकाट्य सत्य है कि यदि विश्वसनीयता और ईमानदारी के संबंध में किसी कूटनीतिज्ञ की ख्याति बाकी न रहे तो वह उस देश के लिए, जिसके हितों की रक्षा करने का दायित्व उस पर होता है, एक भार बन जाता है। बड़ी शक्तियों ने कभी-कभी चालबाजी से कमजोर राष्ट्रों के विरुद्ध अनुचित लाभ उठाया है। चीन के साथ एक बहुत बड़ी शक्ति की संधि में हमें इस बात का एक बहुत कुख्यात उदाहरण मिलता है जब उस बड़ी शक्ति ने संधि-वार्ता में भाग लेनेवाले चीनियों के जाने बिना ही संधि-पत्र में अपने लिए कुछ विशेष अधिकारों की एक शर्त जोड़ दी। कई वर्ष तक इसका लाभ उठाया गया पर चीनी विदेश मंत्रालय न तो इस चालबाजी को भूला जो उसके साथ की गयी थी और न उसने कभी उस शक्ति को इसके लिए माफ ही किया; और पश्चिमी देशों तथा चीन के संबंधों में जो मनमुटाव था वह कुछ मात्रा में इस घटना के कारण ही उत्पन्न हुआ था।

इसमें संदेह नहीं कि बहुधा कूटनीतिज्ञों को अरुचिकर परिस्थितियों में भी प्रसन्नचित्त रहने का दिखावा करना पड़ता है या अपनी नीति के

किसी ऐसे पहलू या किसी ऐसी घटना को न्यायोचित ठहराने के लिए, जिसका दूसरे देश पर हानिकर प्रभाव पड़ता हो, लम्बे-चौड़े तर्क और बहाने ढूँढने पड़ते हैं। यह कोई गलत या बुरी बात नहीं है, यद्यपि इसी बात को 'लेकर बाटन' ने हास्यपूर्वक राजदूत का वर्णन इस प्रकार किया है कि राजदूत एक ऐसा ईमानदार आदमी होता है जिसे अपने देश की तरफ से झूठ बोलने के लिए दूसरे देशों में भेजा जाता है। यह वर्णन उस समय दिया गया था जब तक कि प्रचार हर देश का मुख्य लक्ष्य नहीं बना था और सत्य को विभिन्न रंगों में चित्रित करने की शिष्ट-कला को ऊँचा उठाकर एक राष्ट्रीय उद्योग का पद प्रदान नहीं किया गया था। परन्तु राजदूत की कार्यवाहियों के इस पहलू को कि वह अपने देश के हर काम को न्याय्य ठहराये, घटनाओं पर सबसे अच्छा रंग चढ़ाकर उन्हें पेश करे और आम तौर पर अपने देश को सबसे आकर्षक रूप में प्रस्तुत करे, बिल्कुल स्वाभाविक माना जाता है यदि यह काम सीमा में रहकर किया जाये।

हिन्दू नीति-शास्त्रों में कूटनीति के साधनों और उपायों की परिभाषा चातुरपाय के रूप में की गयी है : साम, दान, भेद और दंड। ये आज भी उतने ही सार्थक हैं और इनमें कोई परिवर्तन करना कठिन है। अब प्रश्न उठता है कि 'साम' क्या है? साम का अर्थ है मित्रता और समझा-बुझाकर अपनी बात मनवाने का आम रवैया; शिष्ट तर्क-वितर्क और न्याय तथा एक-दूसरे के हितों का सम्मान करने पर आधारित कार्य-पद्धति। यह कूटनीति का पहला और सर्वसामान्य उपाय है। 'दान' का शाब्दिक अर्थ है देना; इसके अन्तर्गत ऐसे समझौते आते हैं जिनमें कुछ हानि हो, हितों पर कोई सीमा लगा दी जाये, पीछे हटना पड़े या अपने लक्ष्य प्राप्त करने के लिए दूसरे पक्ष को बदले में कोई सुविधा देनी पड़े। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, यह कूटनीति का नियम है कि 'यदि कुछ मिले नहीं तो कुछ दो भी नहीं' और किसी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमें कुछ कीमत चुकाने, कुछ त्यागने के लिए तैयार रहना चाहिये।

यही समझौते का तरीका है। यदि समझाने-बुझाने और समझौता करने दोनों ही से सफलता न मिले तो 'भेद' का उपाय बताया गया है। यहीं आकर कूटनीति में वैमनस्य की भावना उत्पन्न होती है, जब हर आदमी दूसरे को संसार की दृष्टि में अन्यायी ठहराने का प्रयत्न करता है। अन्तिम उपाय है 'दंड' अर्थात् बल का प्रयोग : अन्तिम साधन के रूप में युद्ध। साधारण परिस्थितियों में कूटनीति में पहले तीन उपायों का एक संतुलित सम्मिश्रण होता है और साथ ही इस बात का पूरा आभास रहता है कि चौथा उपाय किसी भी समय उपलब्ध हो सकता है; यह दूसरी बात है कि परिस्थितियाँ इस अन्तिम उपाय का सहारा लेने के लिए अनुकूल न हों या परिणामों के बारे में दुविधा के कारण उसका प्रयोग न किया जाये।

कूटनीति की प्रतिदिन की कार्यवाहियों में समझा-बुझाकर अपनी बात मनवाने और समझौता करने के उपायों की ही प्रमुखता रहती है। वास्तव में यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि कूटनीतिज्ञ का काम विशिष्ट समस्याओं को हल करना होता है। विभिन्न देशों की सरकारें बहुधा आम नीति की घोषणाएँ कर देती हैं, परन्तु सुनने में अत्यन्त सरल प्रतीत होनेवाले और सर्वमान्य नीति-संबंधी वक्तव्यों को भी ऐसी ठोस समस्याओं के रूप में देखना पड़ता है जिन पर सावधानी से विस्तारपूर्वक विचार किया जा सके। उदाहरण के लिए, मान लीजिये दो पड़ोसी देश अपने सैन्य-बल में कमी करने पर सहमत हो जाते हैं। इस संबंध में देश की संसद में बड़ी आसानी से एक आम वक्तव्य दिया जा सकता है जिससे दोनों देशों की जनता के मन में उत्साह और आशा जागृत हो सकती है। परन्तु इस प्रकार की घोषणा से कुछ भी तै नहीं होता। इस प्रश्न पर कूटनीतिक स्तर पर विचार करना पड़ता है और इसके हर पहलू पर बहस करके सैनिकों, हथियारों और अर्ध-सैनिक संगठनों आदि के बारे में सुनिश्चित निर्णय करने पड़ते हैं। वास्तव में सारी कूटनीति छोटी-से-छोटी बात की ओर ध्यान देने की समस्या होती है, क्योंकि यदि जरा

भी अस्पष्टता बाकी रह जाये तो उससे गलतफहमी पैदा हो सकती है और अपना वचन पूरा करने से बच निकलने की राहें भी मिल सकती हैं। किसी दूसरे देश के कूटनीतिज्ञ से वार्ता करते समय हर कूटनीतिज्ञ का मुख्यतः यही काम होता है कि वह हर चीज की स्पष्ट शब्दों में व्याख्या कराये, व्यापक अर्थ रखनेवाले गोल-मोल कथनों से बचे और जहाँ आवश्यक हो बड़ी सावधानी से अपना मत स्पष्ट शब्दों में प्रकट करने से इंकार कर दे।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कूटनीति का काम मूलतः सारी बातों की लिखा-पढ़ी कर लेने का काम है। सम्मेलनों में बहस करके या अनौपचारिक वार्ता द्वारा बहुत-सी बातें तै कर ली जाती हैं परन्तु जब तक इस प्रकार तै कौ गयी बातों को उचित शब्दों में लिख न लिया जाये और सभी पक्ष उसकी जाँच करके अपनी सहमति न प्रकट कर दें तब तक उनका पालन करने पर किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता।

यदि कूटनीतिज्ञ अपने प्रतिदिन के कार्य में समझा-बुझाकर अपनी बात मनवाने और समझौता करने का तरीका अपनाते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि भेद और दंड के उपाय उनके अस्त्रागार में हर समय प्रयोग करने के लिए तैयार नहीं रखे जाते। प्राचीनकाल में भेद का अर्थ होता था संबंध-विच्छेद; आजकल भी विभिन्न राज्य अपने राजदूतों को वापस बुलाकर, कूटनीतिक संबंध भंग करके या अन्य उपायों से अपना असंतोष और रोष प्रकट करते हैं। जैसे उदाहरण के लिए, दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की भारत-विरोधी नीति के विरुद्ध प्रतिरोध करने के लिए भारत सरकार ने केपटाउन से अपने हाई कमिश्नर को वापस बुला लिया। हाल ही में सोवियत संघ ने क्यूबा से कूटनीतिक संबंध तोड़ देने का गंभीर कदम उठाया। परन्तु भेद का उपाय हमेशा अपने उग्रतम रूप में प्रयुक्त नहीं किया जाता। बात कहने के ढंग में अन्तर होता है और ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है जिससे रोष

और प्रतिरोध बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त भी हो जाये और सर्व-साधारण का ध्यान भी उस ओर अनावश्यक रूप से आकर्षित न हो। जैसे औप-चारिक रूप से राजदूत को वापस बुला लेने के बजाय यह किया जा सकता है कि वह छुट्टी लेकर अपने देश आ जाये और बहुत समय तक वापस न जाये; उस पद को बहुत समय तक उप-राजदूत के अधीन रखा जा सकता है। कई अन्य तरीके हैं जिनके द्वारा उचित कूटनीतिक आचरण से हटे बिना कोई भी देश दूसरे देश के प्रति अपन रोष प्रभाव-शाली ढंग से प्रकट कर सकता है।

अन्तिम उपाय है दंड, अर्थात् बल का प्रयोग। परन्तु इसे युद्ध का पर्यायवाची न समझ लेना चाहिये। दबाव डालने के अन्य उपाय भी हैं जो विशिष्ट उदाहरणों में इतने ही सफल सिद्ध हो सकते हैं। दो महा-युद्धों के बीच के काल में “प्रतिबंध” शब्द का बहुत प्रयोग किया जाता था। अन्याय के पथ पर चलनेवाले किसी राज्य को ठीक मार्ग पर लाने के लिए उसके विरुद्ध प्रतिबंध लगाये जाते थे। इसका सबसे प्रख्यात उदाहरण वह था जब लीग आफ नेशन्स ने इस तरीके को अपनाकर मुसोलिनी पर दबाव डालने का प्रयत्न किया था। उस समय जो प्रति-बंध लगाये जाते थे वे मुख्यतः आर्थिक होते थे; परन्तु इससे हमें इस सत्य की ओर से आँखें न मूँद लेना चाहिये कि युद्ध के अलावा अन्य उपाय भी थे जिन्हें राज्यों पर दबाव डालने के लिए सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया जा सकता था, जैसे नाकेबंदी, बायकाट, यातायात के मार्ग बंद कर देना आदि। हम भारतवासी जानते हैं कि बायकाट कितना प्रभावक सिद्ध हो सकता है। कमजोर देशों ने हमेशा शक्तिशाली देशों के विरुद्ध इसका प्रयोग किया है। सन् १९१७ से युद्ध आरंभ होने के समय तक चीनियों ने जापानियों के विरुद्ध और कभी-कभी अंग्रेजों के विरुद्ध भी इस हथियार को पूरी तरह और बड़ी सफलता के साथ इस्तेमाल किया। यातायात के मार्ग बंद कर देने का महत्त्व वायु-यातायात की उन्नति के साथ और भी बढ़ गया है। अभी हाल ही में इस प्रकार की

एक काफी महत्वपूर्ण घटना का उदाहरण मिलता है जब इन्डोनेशियाई गणतंत्र के विरुद्ध हालैंड की तथाकथित 'पुलिस कार्रवाई' के दौरान में कई एशियाई देशों ने हालैंड के वायुयानों को अपने देशों पर से होकर गुजरने की अनुमति देने से इंकार कर दिया था। चीन की अधोषित नाकेबंदी; कानून का सहारा लेकर ईरान के तेल के व्यापार का बायकाट करने का प्रयत्न; व्यापारिक अंकुशों द्वारा और वायु-यातायात के मार्गों से उसे वंचित करके अफगानिस्तान पर दबाव डालने की कोशिश — ये कूटनीति में राज्यों द्वारा दंड के उपाय का प्रयोग करने के हाल ही के कुछ और उदाहरण हैं।

कूटनीति का आन्तिम हथियार युद्ध है। जब अन्य सभी साधनों तथा उपायों का पूरी तरह प्रयोग करके भी सफलता प्राप्त नहीं होती तो राष्ट्र युद्ध द्वारा अपने लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए मूलतः यह उसी लक्ष्य को बलपूर्वक प्राप्त करने का प्रयत्न होता है जिसे कूटनीति शान्तिपूर्ण उपायों से प्राप्त करने में असफल रही हो। परन्तु यह समझ लेना भूल होगी कि युद्ध आरंभ होते ही कूटनीति का कार्य समाप्त हो जाता है। इसमें तो संदेह नहीं कि साधारणतया जब वस्तुतः लड़ाई चल रही हो तो कोई भी खुल्लम-खुल्ला अपने शत्रु से संधि की वार्ता नहीं करता; परन्तु हाल ही में कोरिया में सैनिक कार्रवाई में कोई ढील डाले बिना दीर्घकाल तक युद्ध-विराम की वार्ता चलती रही जिससे सिद्ध होता है कि उपरोक्त नियम भी अपवादों से मुक्त नहीं है। परन्तु यह समझ लेना बहुत बड़ी भूल होगी कि दो देशों के बीच युद्ध छिड़ते ही कूटनीति संघर्ष के परिणाम की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे बैठी रहती है। यह स्वाभाविक ही है कि कूटनीतिक उपायों से शत्रु की शक्ति को क्षीण करने, युद्ध में उसे परास्त करने और यदि संभव हो तो उसे अपनी पराजय स्वीकार करने पर बाध्य करके युद्ध को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने का प्रयत्न किया जाये। पिछले दो महायुद्धों में दोनों पक्षों की ओर से सरकारों की परवाह न करते हुए सीधे जनता

को सम्बोधित करने के प्रयत्न बारम्बार किये गये ।

यह समझा जाता है कि विदेश मंत्री और कूटनीतिज्ञ अपने देश के स्थायी हितों को जानते हैं और तत्कालीन वास्तविकताओं की दृष्टि से उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु कोई भी व्यक्ति पहले से इस बात की स्पष्ट कल्पना नहीं कर सकता कि भविष्य में चल-कर किसी छोटी-से-छोटी कार्यवाही का परिणाम क्या होगा ? ज़ामोरिन^१ से क्रुद्ध होकर कोचीन के राजा ने पुर्तगालियों को अपनी भूमि पर एक व्यापार-केन्द्र स्थापित करने की अनुमति दे दी, परन्तु उस समय वह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि उसने भारत के जीवन में एक ऐसे तत्व को प्रविष्ट कर दिया था जिसने आगे चलकर इतिहास की दिशा ही बदल दी। रूस में गड़बड़ी और अव्यवस्था फैलाने की उत्सुकता में जर्मन अधिकारियों ने जब लेनिन और उसके सहकारियों को एक बंद गाड़ी में अपने देश की सीमा से होकर गुजरने की अनुमति दी थी उस समय उन्हें इसकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि वे किन शक्तियों को उन्मुक्त कर रहे थे। उस समय वे इसी को आवश्यक समझते थे कि रूस की युद्ध करने की शक्ति को बिल्कुल चकनाचूर कर दिया जाये और इसलिए उन्होंने लेनिन को वहाँ भेजने में ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता समझी। कूटनीति की परिसीमा के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; वास्तव में ये मानव-बुद्धि की परिसीमा के प्रमाण हैं। पहले से किसी वस्तु की कल्पना न कर सकना सभी क्षेत्रों में मनुष्य की एक कमजोरी है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में कभी-कभी इसके अत्यन्त भयंकर परिणाम होते हैं। प्रतिदिन की समस्याओं की वास्तविकताओं का मुकाबला करने के लिए जो निर्णय किये जाते हैं, यदि वैदेशिक नीति के संचालन में उनके परिणामों की कल्पना पहले से न की जाये तो इतिहास उस नीति-संचालन की उतनी ही कड़ी निंदा करता है जितनी कि समकालीन आलोचक। संभव है कि यह आलोचना अनुचित हो क्योंकि कोई भी व्यक्ति भविष्य को पहले से नहीं जान सकता, फिर भी जिन लोगों पर

वैदेशिक नीति के संचालन का भार होता है वे इस दायित्व से बच नहीं सकते ।

कभी-कभी घटनाएँ इतनी तेजी से होती हैं कि मनुष्य के लिए उनका अनुमान लगाना कठिन हो जाता है । विशेषतः क्रान्तिकारी युग में, जैसे युग में हम रह रहे हैं, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम का साधारणतया मंदगामी प्रवाह एक उद्दाम धारा का भयंकर रूप धारण कर लेता है जिसकी दिशा, गति और प्रबलता का अनुमान कोई भी नहीं लगा सकता । जिन लोगों के कंधों पर राष्ट्रों के भाग्य का निर्णय करने का भार होता है और जिन्हें संसार के विभिन्न देशों में अपनी नीति का संचालन करना पड़ता है वे बहुधा अपने आपको अंधी और क्रूर नियति के हाथों में एक कठपुतली के रूप में पाते हैं । यदि कोई भी व्यक्ति सेराजेवो हत्याकांड^१ के समय से लेकर, जिस घटना ने सन् १९१४ में बारूद में आग लगाने का काम किया था, आज तक के विदेश मंत्रियों तथा कूटनीतिज्ञों के संस्मरण पढ़े तो उसकी समझ में आ जायेगा कि उन घटनाओं के सामने, जो ऐसा प्रतीत होता था कि सहसा अपने ही बनाये हुए किसी ऐतिहासिक नियम का पालन करने लगी थीं, हर आदमी कितना लाचार, निस्सहाय और अक्षम अनुभव करता था । ऐसी परिस्थिति में कूटनीतिक आचरण का सर्वोत्तम ज्ञान रखने और छोटी-से-छोटी बातों की ओर पूरा-पूरा ध्यान देने से भी काम नहीं चलता । भीषण अन्तर्राष्ट्रीय संकट के काल में राजनेताओं और कूटनीतिज्ञों की कार्यवाहियों की आलोचना करते समय, जिसकी प्रवृत्ति हम सबमें पायी जाती है, हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिये । इसमें तो संदेह नहीं कि समुद्र में आनेवाले तूफान की तरह ऐसे संकट का भी पहले से अनुमान लगाया जा सकता है और उसकी रोकथाम के लिए कुछ कदम उठाये जा सकते हैं । परन्तु तूफान आ जाने के बाद जहाज का कप्तान और दूसरे अफसर जहाज को बचाने और तूफान के गुजर जाने की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते हैं । जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के संकट का प्रश्न है—और

यह हमारे इस युग की मुख्य विशिष्टता मालूम होती है — स्पष्टतः वह उग्र रूप धारण कर चुका है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, कूटनीति पर इसके अत्यन्त निन्दनीय प्रभाव पड़े हैं और आज राज्यों के पारस्परिक संबंधों की जो अरुचिकर लाक्षणिकताएँ हैं वे सीधे-सीधे इसी का परिणाम हैं।

दुर्भाग्यवश अखबार में छपी हुई बातों के आधार पर राज्यों के पारस्परिक संबंधों को परखने की सर्वसाधारण की आदत के कारण और भी गड़बड़ी पैदा होती है। यह याद रखना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में बहुधा चीजें उससे भिन्न होती हैं जैसी कि वे देखने में लगती हैं। कूटनीति की भाषा का कभी-कभी लोग बिल्कुल ही गलत मतलब समझ बैठते हैं। यदि किसी विज्ञप्ति में पूर्ण सहमति की बात की गयी हो तो संभव है उसका अर्थ केवल यह हो कि दोनों पक्ष एक-दूसरे से मतभेद रखने पर सहमत हैं। परस्पर विरोधी प्रचार की आड़ में संभव है ऐसी कूटनीतिक चालें चली जा रही हों जो एक दूसरे की स्थिति के प्रति अधिक समझ-बूझ की परिचायक हों। संभव है कि राजनेताओं द्वारा धुँआधार भाषण केवल अपने देशवासियों को संतुष्ट करने के लिए हों और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन भाषणों में कही गयी बातों से संबंध रखनेवाले देशों को पहले ही से वे बातें उचित ढंग से समझा दी जाती हैं। मुसोलिनी इस काम में बहुत निपुण था। वह अपने देश की जनता को प्रभावित करने के लिए लगातार जोशीले भाषण दिया करता था पर साथ ही ब्रिटेन और फ्रांस को यह आश्वासन भी देता जाता था कि इन बातों से बहुत निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है और यदि उसे कुछ फायदा पहुँचने की आशा दिलायी जाये तो वह समझौते के लिए तैयार है। राजनेताओं की कार्यवाहियों के फलस्वरूप इस प्रकार की गलतफहमियों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में कुछ ऐसे उपकरण भी होते हैं जो हमेशा प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देते। संभव है बाहर से देखने में दो देशों के बीच मित्रता हो पर उसके पीछे गहरा

वैमनस्य छुपा हो। उदाहरण के लिए, कम्युनिस्ट देशों और यूगोस्लाविया के संबंध अन्तिम रूप से भंग होने के आखिरी क्षण तक हर जगह आम जनता को यही विश्वास था कि मार्शल टीटो कॉमिनफार्म के एक आधार स्तम्भ हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नेटो, पूर्वी गुट, चीनी-सोवियत संधि आदि प्रकार के जिन विभिन्न संधि-संगठनों का प्रभुत्व है उनमें बाहर से देखने में एक अटूट एकता दिखायी देती है। इन संगठनों में अन्दर ही अन्दर क्या प्रतिद्वन्द्वता और वैमनस्य छुपा हुआ है इसका ज्ञान सर्वोन्नत देशों के अच्छी-से-अच्छी जानकारी रखनेवाले लोगों को भी नहीं हो सकता। फलस्वरूप सर्वसाधारण में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के बारे में एक भ्रान्त धारणा उत्पन्न होती है।

फिर विभिन्न देशों के विदेश मंत्रालयों को परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान किस प्रकार होता है? यह जानकारी प्रदान करना विदेशों में नियुक्त राजदूतों और मंत्रियों का काम होता है। विदेशों में काम करनेवाले कूटनीतिक मंडलों का मुख्य काम यह होता है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रत्यक्ष रूप के पीछे छुपी हुई उनकी वास्तविकता के बारे में अपने देश की सरकार को सूचित करते रहें। विदेशों से आनेवाली रिपोर्टें जिस हद तक तथ्यों पर आधारित, यथार्थमूलक और विचारपूर्ण होंगी उतनी ही अच्छी जानकारी विदेश मंत्रालय को मिल सकेगी और उचित निर्णय करने की उसकी क्षमता उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत यदि राजदूत और कूटनीतिक मंडलों के नेता परिस्थिति का विश्लेषण गलते ढंग से करें या घटनाओं के वास्तविक महत्त्व का मूल्यांकन करने में असफल रहें तो विदेश मंत्रालय जिन तथ्यों पर अपने निर्णय आधारित करेगा वे अपर्याप्त होंगे और फलस्वरूप उसके निर्णय भी गलत होंगे। राजदूत के कार्यालय को अपने देश की सरकार के पास केवल तथ्यों का ब्योरा या प्रतिदिन की घटनाओं के बारे में पत्रकारों जैसा रोजनामचा नहीं भेजना पड़ता। हर विदेश मंत्री को दूसरे देशों की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण और

उस देश में विभिन्न शक्तियों की पारस्परिक स्थिति की जानकारी प्राप्त होना चाहिये ताकि उसे और उसके सहायकों को परस्थिति का वास्तविक ज्ञान हो सके और वे फैसला कर सकें कि उस परिस्थिति को अपने देश के हित में किस प्रकार इस्तेमाल किया जा सकता है।

कूटनीति का एक और पहलू है जो इधर कुछ वर्षों से बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया है और वह है संयुक्त राष्ट्र संघ में कूटनीति। पहले महायुद्ध के बाद एक अन्तर्राष्ट्रीय विचार-परिषद की स्थापना कई दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसकी उत्पत्ति का कारण यह था कि इस बात को मोटे-मोटे तौर पर स्वीकार किया जाने लगा था कि युद्धों में बहुत धन व्यय होने लगा है और इसलिए राष्ट्रों की सुरक्षा को सभी देशों के संयुक्त प्रयासों द्वारा सुनिश्चित बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। सामूहिक सुरक्षा सबका नारा बन गया और छोटे राज्यों को विशेषतः यह आशा बैंधी कि लीग आफ नेशन्स उनकी स्वतंत्रता और क्षेत्रीय अखंडता को सुनिश्चित बना सकती है। यदि यह संभव होता तो कूटनीति का राष्ट्रीय सुरक्षा को सुनिश्चित बनाने का मुख्य लक्ष्य पूरा हो जाता। बहुत-से लोगों को विश्वास था कि लीग आफ नेशन्स यह करने में सफल होगी और इसलिए विभिन्न राज्य धीरे-धीरे अपने हथियारों में कमी कर सकेंगे और अपना धन दूसरे कामों में लगा सकेंगे। फलतः निरस्त्रीकरण जेनेवा की बहसों का मुख्य विषय बन गया। मंचूरिया और बाद में अबीसीनिया की जो दुर्गति हुई उससे सिद्ध हो गया कि लीग आफ नेशन्स राष्ट्रों को वाद-विवाद के लिए एक मंच तो प्रदान करती है पर उससे राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या को हल करने में सहायता नहीं मिलती। लीग आफ नेशन्स के मत की सर्वथा अवहेलना करते हुए और उन प्रतिबंधों की परवाह न करते हुए, जिन्हें इस पर लगाने का प्रयत्न किया गया था, मुसोलिनी अपनी विजय की योजना पर चलता रहा। बाद में जब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया के टुकड़े-टुकड़े कर दिये तब तो राजनीतिक बातों का तनिक भी ज्ञान न रखनेवालों के लिए भी

यह स्पष्ट हो गया कि लीग आफ़ नेशन्स के पास राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या का कोई हल नहीं है। इसलिए दूसरे महायुद्ध के बाद सभी राष्ट्रों को सामूहिक सुरक्षा का आश्वासन देने के उद्देश्य से पुराने संगठन के खँडहरों पर एक नये संगठन की स्थापना की गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुए अभी केवल दस वर्ष हुए हैं और सचमुच कोई बहुत ही हिम्मतवाला होगा जो यह कह सके कि इस संस्था के अस्तित्व के फलस्वरूप किसी भी राष्ट्र के लिए सुरक्षा की समस्या अब पहले से कम उग्र रह गयी है। इसमें तो संदेह नहीं कि एक या दो स्थानों में वह सैनिक कार्रवाई को सीमित रखने में सफल हुई है। कदाचित, कुछ स्थानों में इसके अस्तित्व के कारण कुछ राष्ट्र अपनी मनमानी नहीं कर सके हैं। परन्तु स्वयं संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर जो अशुभसूचक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं उनके कारण सुरक्षा की समस्या का महत्व पहले से भी बढ़ गया है और उसने एक असाधारण रूप धारण कर लिया है, क्योंकि अब हमारे सामने एक देश द्वारा दूसरे देश के विरुद्ध नहीं बल्कि आधी दुनिया द्वारा बाकी आधी दुनिया के खिलाफ युद्ध की समस्या है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अस्तित्व के कारण न तो विभिन्न राज्यों की कूटनीति के लक्ष्यों पर कोई बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है और न कूटनीति के कर्तव्यों पर ही।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिवेशनों में जो कुछ होता है उसे किसी भी दृष्टि से कूटनीति नहीं कहा जा सकता। वहाँ बहस, वाद-विवाद और शास्त्रार्थ होता है और एक-दूसरे की निंदा की जाती है; ये सभी बातें कूटनीति के बिल्कुल विपरीत हैं। कूटनीति का काम शान्त वातावरण में होता है और उसका ढिंढोरा नहीं पीटा जाता। कूटनीति के क्षेत्र में कोई दर्शक और श्रोता नहीं होते। इसलिए इसकी पूरी मनोवृत्ति ही अलग होती है। इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्र संघ में पूरे संसार को सम्बोधित करके भाषण दिये जाते हैं। स्वाभाविक ही है कि ऐसी दशा में हर चीज अपने स्तर से गिरकर शास्त्रार्थ और एक-दूसरे की निंदा का

रूप धारण कर ले; कभी तो इसका उद्देश्य अपने देश की जनता पर प्रभाव डालना होता है और कभी दूसरे देशों के लोगों और दलों को सम्बोधित करना। आम तौर पर संयुक्त राष्ट्र संघ में सभी लोग विश्व जनमत को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करते हैं, जबकि कूटनीति में किसी समझौते पर पहुँचने की चेष्टा की जाती है।

कूटनीति के साधनों पर विचार करते समय यदि मैं इस ओर भी संकेत कर दूँ तो अच्छा होगा कि कूटनीतिज्ञ के रास्ते में कैसी-कैसी कठिनाइयाँ आती हैं जिनसे बचना वह अनुभव से सीखता है। किसी बात के प्रति बहुत उत्साह दिखाना कूटनीतिज्ञ के लिए सबसे हानिकारक है। विभिन्न समस्याओं पर शान्त और विवेकशील ढंग से विचार करने की क्षमता अपने आप उत्पन्न नहीं हो जाती, उसे प्रयत्न करके उत्पन्न करना पड़ता है। परन्तु नयी परिस्थितियों, नयी संभावनाओं और बहुधा नये सुअवसरों को देखकर लोगों का उत्साह बढ़ जाता है और उनमें कुछ कर दिखाने और ख्याति प्राप्त कर लेने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। जिन समस्याओं को दूसरों ने कठिन समझा उन्हें हल कर देने की इच्छा के अधीन बहुधा अत्यन्त प्रतिभाशाली लोग भी इस गलती का शिकार हो जाते हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि हममें से सभी लोग इस संबंध में अपने-अपने विचार रखते हैं कि बड़े राष्ट्रों के वर्तमान झगड़ों को किस प्रकार निबटाया जा सकता है — पूर्व और पश्चिम की तनातनी को कैसे दूर किया जा सकता है, निरस्त्रीकरण संभव कैसे बनाया जा सकता है, आणविक अस्त्रों पर नियंत्रण कैसे रखा जा सकता है। परन्तु यदि अपने उत्साह में इस बात को ध्यान में रखे बिना कि इन समस्याओं के बारे में विभिन्न शक्तियों की वास्तविक स्थिति क्या है, हम इन प्रश्नों को हल करने के लिए सिद्धान्त प्रतिपादित कर दें तो हम स्वयं अपने देश के विदेश मंत्रालय को संकट में फँसा देंगे।

बुनियादी बात यह है कि कूटनीति पांडित्य-प्रदर्शन का क्षेत्र नहीं है। कूटनीति के क्षेत्र की हर समस्या में कहीं न कहीं सत्ता का प्रश्न छुपा होता

है; इस बात को कहा नहीं जाता पर इसे मानकर चला जाता है और किसी भी दशा में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उत्साही लोगों की यह कमजोरी होती है कि वे इस बात को ध्यान में नहीं रखते और हर समस्या को रेखागणित की प्राथमिक समस्याओं जितना सरल बना देते हैं। इसीलिए तालेरॉ ने चेतावनी दी थी कि कूटनीतिज्ञ को कभी किसी समस्या के प्रति आवश्यकता से अधिक उत्साह न दिखाना चाहिये।

कूटनीतिज्ञों के मार्ग में एक दूसरी कठिनाई उनके चारों ओर के सामाजिक जीवन के अस्वाभाविक स्वरूप से उत्पन्न होती है। यद्यपि हर कूटनीतिज्ञ किसी न किसी देश में काम करता है पर उसका मिलना-जुलना और सामाजिक जीवन अपने सहकर्मियों के एक अत्यन्त संकुचित क्षेत्र तक ही सीमित रहता है जिसे 'कूटनीतिक क्षेत्र' कहते हैं। यह एक छोटा-सा समाज होता है जिसके आचरण के अपने अलग नियम, अपना अलग शिष्टाचार होता है और इससे भी बढ़कर यह कि वे कुछ चीजों के बारे में पहले से ही एक मत निर्धारित कर लेते हैं जिसे बदला नहीं जा सकता और कुछ बातों से वे दूर रहते हैं। हर राजधानी में यह एक छोटी-सी अलग बस्ती होती है जिसे अपने अस्तित्व की विशेष परिस्थितियों के कारण मुख्यतः अपने ही साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। स्वाभाविक ही है कि अन्य सभी संकुचित सम्प्रदायों की तरह इस सम्प्रदाय में भी अपने ढंग से झगड़े, द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिद्वन्द्विता और लज्जास्पद घटनाएँ होती रहती हैं जिनका पता साधारणतया सर्वसाधारण को नहीं चलता। यह अनिवार्य है कि हर कूटनीतिज्ञ कुछ हद तक उस समाज के वातावरण और स्वभाव से प्रभावित हो जिसमें वह रहता है और ऐसी दशा में वह अनजाने ही अपने देश के हितों को हानि पहुँचा सकता है। जितना हम समझते हैं उससे अधिक अवसरों पर ऐसा होता है। कूटनीतिज्ञों के मत पर कूटनीतिक बस्ती के वातावरण का कुछ न कुछ रंग चढ़ ही जाता है और असाधारण रूप से अपने विचारों की स्वतंत्रता पर अटल रहनेवाला व्यक्ति ही अपने अवलोकनों और निष्कर्षों को

यथार्थता के अनुकूल रख सकता है।

कुछ देशों की राजधानियों में अभी तक 'कूटनीतिज्ञ समाज' के विषय में पुरानी धारणाएँ चली आती हैं। परन्तु 'कूटनीतिज्ञ समाज' केवल इन मामलों पर विचार कर सकता है कि कूटनीतिज्ञों को क्या विशेष सुविधाएँ मिलें, उनके अधिकार क्या हों और उनके प्रति सम्मान प्रकट करने और शिष्टाचार के क्या नियम हों। वह राजनीतिक समस्याओं पर विचार नहीं करता। परन्तु एशिया के कुछ देशों में, विशेषतः पुराने चीन में, कूटनीतिज्ञ समाज ने राजनीतिक समस्याओं के बारे में भी सामूहिक रूप से निर्णय करने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया था।

एक और खतरा, जिसे हर कूटनीतिज्ञ को पाप की तरह दूर रखना चाहिये, वह है अपने ही मत को सर्वोपरि मानने की भावना। राजदूत को किसी देश में इसलिए नहीं भेजा जाता कि वह वहाँ की दशा सुधारे या वहाँ नैतिकता, सदाचार और सद्व्यवहार को प्रोत्साहन दे। उसका एकमात्र कर्तव्य अपने देश के हितों की रक्षा करना होता है और यदि वह अपने मतानुसार अपने देश के मानदंडों या किसी नैतिक सिद्धान्त विशेष की कसौटी पर व्यक्तियों, संस्थाओं और घटनाओं को परखने लगा तो वह अनिवार्यतः द्वेषपूर्ण आलोचक बन जायेगा और अपने देश के हितों को बढ़ावा देने की उसकी क्षमता क्षीण हो जायेगी। कूटनीति के संचालन में सहिष्णुता के गुण को बहुत महत्त्व दिया जाना चाहिये।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि, जैसा मैंने आरंभ में बताया था, कूटनीति या कूटनीतिज्ञों में कोई गुप्त, रहस्यमय या कौतूहलजनक बात नहीं है; यह राज्यों के पारस्परिक संबंधों के संचालन का औपचारिक कार्य है और इस पर भी वही नियम लागू होते हैं जिनका पालन ईमानदार लोग एक-दूसरे के साथ अपने व्यवहार में करते हैं—ईमानदारी, स्पष्टवादिता, समझौता करने की तत्परता, अपने मूलभूत सिद्धान्तों से डिगे बिना एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करना। केवल सद्भावना उत्पन्न करके ही कूटनीति को सफल बनाया जा सकता है।

किसी देश की कूटनीति की सफलता या निष्फलता का निर्णय करते समय हमें मुख्य प्रश्न यह पूछना चाहिये कि उससे देश के हितों को लाभ पहुँचा है या हानि; कहीं उसकी सुरक्षा कमजोर तो नहीं हुई है; क्या उसे अपने मित्रों की सद्भावना और जो मित्र नहीं हैं उनका सम्मान प्राप्त है। हर देश की कूटनीति का लक्ष्य इन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करना होता है और यदि इसमें सफलता मिल रही हो तो इस बात की चिन्ता नहीं करना चाहिये कि कल्पनातीत फल प्राप्त नहीं हो रहे। वास्तव में कूटनीतिज्ञ कल्पनातीत परिणामों से बढ़कर किसी दूसरी चीज को संदेह की दृष्टि से नहीं देखता। एक महान राजनेता ने कूटनीतिज्ञों को यह परामर्श दिया था : “कूटनीति में कभी किसी को बहुत अधिक सफलता प्राप्त करने की चेष्टा न करना चाहिये।”

कूटनीति के विषय में
कुछ सूक्तियाँ

राजदूतों के विषय में

-१-

राजदूतों का दोहरा उत्तरदायित्व होता है। वे किसी देश में अपने देश की सरकार की नीतियों को व्यावहारिक रूप देने और उन्हें क्रियान्वित करने के लिए भेजे जाते हैं; परन्तु उनका इतना ही महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व यह भी है कि वे जिस देश में नियुक्त हों उसकी नीति, रवैया और आम परिस्थितियों से भी अपने देश की सरकार को परिचित करायें।

-२-

राजदूत नीति प्रतिपादित नहीं करता। यह काम सरकार का और विशेषतः विदेश मंत्री का होता है। परन्तु चूँकि वह अपनी सरकार का दृष्टिकोण निर्धारित करने में सहायता देता है, जिस देश में वह नियुक्त होता है वहाँ की परिस्थिति अपने अनुकूल बनाता है, और चूँकि उसके देश के प्रति विदेशों की सरकारों का रवैया उसके व्यवहार पर निर्भर करता है, इसलिए नीति के प्रतिपादन में किसी भी बड़े देश की राजधानी में नियुक्त राजदूत की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है।

-३-

राजदूत का प्रमुख और प्रायः एकमात्र कर्तव्य अपने देश की सुरक्षा और हितों का ध्यान रखना है। यदि यह सुरक्षा शान्तिपूर्ण उपायों से सुनिश्चित हो सकती हो तो उसे शान्ति के लिए काम करना चाहिये। यदि शान्तिपूर्वक इसे प्राप्त न किया जा सके तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह शान्ति को भंग करने के लिए या युद्ध के लिए काम करे बल्कि उसे परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने की यथासंभव चेष्टा करनी चाहिये।

-४-

राजदूत को किसी भी देश में पूरे विश्व के हितों को नहीं बल्कि अपने देश के हितों को बढ़ावा देने के लिए भेजा जाता है। अपने देश के हितों का साधन करने का सबसे अच्छा उपाय बहुधा कल्पनातीत सफलताएँ प्राप्त करने का प्रयत्न करने के बजाय दृढ़ता, न्यायप्रियता, विश्वसनीयता और मित्रता आदि गुणों के संबंध में धीरे-धीरे अपनी साख बिठाना होता है।

-५-

यदि किसी राजदूत के बारे में यह संदेह हो जाये कि वह नैराश्य की भावना का शिकार रहता है और अपने देश के हितों पर दृढ़ नहीं है तो केवल यही नहीं कि उसकी बात का कोई मूल्य नहीं होगा, बल्कि उस पर लगातार दबाव भी डाला जायेगा। परन्तु यदि उसमें दृढ़ता के साथ ही समझ-बूझ और ईमानदारी के गुण भी हों तो बहुत-कुछ सफलता प्राप्त की जा सकती है।

-६-

चूँकि समय के साथ कूटनीति के उपाय और उसकी कार्य-पद्धति बदलती रहती है इसलिए जो राजदूत आज सफल कहलाते हैं वे कल की परिस्थितियों में असफल सिद्ध हो सकते हैं। यह कल्पना करना असंभव है, कि तालेरों की वार्ता मोलोतोव के साथ हो रही है और तालेरों अपनी सफलताओं पर मन ही मन प्रसन्न हो रहे हैं, या साम्राज्ञी के बराबर पद-वाली किसी आधुनिक शासिका के श्रृंगार-कक्ष में माल्मेसबरी^१ कूटनीतिक वार्ता कर रहे हैं। अब वैभवाशाली विभूतियों द्वारा कूटनीति का संचालन संभव नहीं रह गया है। वर्तमान लोकतांत्रिक युग में, जब विदेश मंत्री प्रतिदिन वक्तव्य देते रहते हैं, जानबूझकर समाचारपत्रों में गुप्त भेदों का रहस्योद्घाटन करा दिया जाता है और निन्दा करना कूटनीति का एक साधन बन गया है, राजदूतों के लिए समाज के उच्च

स्तर के वैभव की अपेक्षा राजनीति के कटु सत्यों का आदी होने की अधिक आवश्यकता है।

—७—

राजदूत को अपने काम का श्रेय शायद ही कभी मिलता हो। यदि वह सफल होता है तो जिन कठिनाइयों का उसे सामना करना पड़ता है उनको हमेशा कम करके आँका जाता है और यदि वह असफल रहता है तो सारा दोष उसी के मत्थे मढ़ा जाता है, चाहे असफलता पूरी तरह उसके देश की सरकार की ही किसी कार्यवाही के कारण क्यों न हुई हो। गोपनीयता के जिम वातावरण में उसे काम करना पड़ता है उसके कारण वह अपनी कार्यवाहियों को उचित भी नहीं ठहरा सकता।

—८—

राजदूत को अपनी सरकार की निर्धारित की हुई नीति का पालन करना पड़ता है। बहुधा ऐसा भी हो सकता है कि वह नीति स्वयं उसके सुझावों के प्रतिकूल हो क्योंकि केवल उसके देश की सरकार ही पूरी परिस्थिति से परिचित होती है जबकि राजदूत केवल अपने सीमित क्षेत्र की ही बात जानता है। इसलिए यदि उसे ऐसे आदेशों का भी पालन करना पड़े जो उसके अपने दृष्टिकोण से मूलतः भिन्न हों तो उसे भावनाओं, पूर्वाग्रहों या मित्रता के आवेश में न बह जाना चाहिये और उस देश की सरकार को इस बात का लेशमात्र भी संकेत न देना चाहिये कि उसका अपना दृष्टिकोण भिन्न है।

—९—

राजदूत को दूसरे देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में काम करना पड़ता है। कम्युनिस्ट राजदूतों को पूँजीवादी राज्यों में काम करना पड़ता है और गणतान्त्रिक राजदूत राज-दरबारों में जाने से नहीं बच सकते। कोई भी राजदूत जिस किसी देश में नियुक्त किया

जाता है, वह वहाँ की परिस्थितियों पर न तो कोई गंभीर प्रभाव ही डाल सकता है, न नयी परिस्थितियों की रचना ही कर सकता है। अपनी व्यक्तिगत रुचियों को वह न तो शब्दों द्वारा व्यक्त कर सकता है और न अपने व्यवहार द्वारा ही प्रकट कर सकता है। उसे अपना लक्ष्य यह बनाना होता है कि वह उस देश की आत्मा में प्रवेश करके उसे भली भौति समझे, न कि नैतिक श्रेष्ठता का रवैया अपनाये, क्योंकि इसका परिणाम केवल इतना ही नहीं होता कि वह जिन लोगों के सम्पर्क में आता है वे इस रवैये पर झुँझला उठें बल्कि इससे स्वयं उसके देश को भी हानि पहुँच सकती है।

—१०—

राजदूत में क्या गुण होने चाहिये, इसका वर्णन एक अनुभवी कूटनीतिज्ञ ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

“यह बात तो आम तौर पर सभी मानते हैं कि प्रखर बुद्धि राजदूत का पहला गुण है। कूटनीतिज्ञों पर सबसे अधिक दोष चातुर्य की कमी का लगाया जाता है। प्रखर बुद्धि के महत्त्व में तो किसी को संदेह नहीं पर इसके कारण हमें अन्य गुणों, जैसे धैर्य, मर्यादा, विवेक और गंभीरता आदि को न भूल जाना चाहिये। कूटनीतिज्ञ के अस्त्रागार में ये सभी गुण होने चाहिये।”

लोग इस बात को बड़ी आसानी से भूल जाते हैं कि चातुर्य का मुकाबला करने के लिए दूसरा आदमी भी चतुर हो सकता है और जो लोग मूढ़ बने रहना पसंद करते हैं उनके आगे प्रखर बुद्धि की एक नहीं चलती। राजदूत का काम ऐसा नहीं होता कि कुछ दिन जमकर काम कर लिया फिर कई दिन की छुट्टी; उसका काम नियमित औपचारिक संबंधों पर निर्भर करता है जो अधिकांशतः अत्यन्त नपे-तुले सुस्पष्ट शब्दों में लिखित सामग्री पर आधारित होते हैं। अन्ततः सर्वश्रेष्ठ परिणाम तभी प्राप्त होते हैं जब आदमी में धैर्य, सतर्कता, अपने प्रतिरोधी का दृष्टिकोण

समझने की क्षमता और शान्त स्वभाव सभी का सम्मिश्रण हो।

-११-

अपने देश का प्रतिनिधि होने के नाते राजदूत को इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है कि वह न तो कोई ऐसा काम करे और न कोई ऐसी बात ही कहे जिससे उसके देश के नाम पर आँच आये। उसका रहन-सहन का ढंग भी बहुत तड़क-भड़क और फिजूलखर्ची का न होते हुए भी ऐसा अवश्य होना चाहिये कि उसकी उचित मर्यादा कायम रहे। अपनी वेश-भूषा तथा आचरण और लोगों के साथ आम व्यवहार में उसे इस बात का बहुत ध्यान रखना चाहिये कि उसका निजी व्यक्तित्व उसके देश के एक प्रतिनिधि के व्यक्तित्व में विलीन हो गया है। इस बात से कई लोगों में बहुत शान दिखाने की प्रवृत्ति आ जाती है और उनका व्यवहार आम तौर पर बहुत औपचारिक हो जाता है। परन्तु यह भी ऐसे आचरण और व्यवहार से अच्छा है जिससे अपने देश के नाम पर धब्बा लगे और सब लोग उस पर हँसें। 'नयी कूटनीति' की परिपाटी पर चलनेवालों में कभी-कभी ज़रूरत से ज्यादा खुलकर लोगों से मेल-जोल बढ़ाने और कूटनीतिक आचरण के नियमों का उल्लंघन करने की और दूसरी ओर कुछ लोगों में अत्यधिक रोब-दाब रखने और कूटनीतिक आचरण के नियमों का अनावश्यक सख्ती से पालन करने की प्रवृत्ति पायी जाती है; इन दोनों प्रवृत्तियों में एक उचित संतुलन स्थापित करना हर राजदूत का लक्ष्य होना चाहिये।

-१२-

अत्यधिक उत्साह कूटनीतिज्ञ का सबसे बड़ा दोष है। कूटनीति के सबसे सिद्धहस्त आचार्य तालेरॉ ने एक नवयुवक मित्र को यह परामर्श दिया था : "सबसे पहली बात यह है कि अपने उत्साह को बश में रखो।" यह बात राजदूतों पर विशेष रूप से लागू होती है। यदि कोई राजदूत

संकीर्ण राष्ट्रप्रेम के क्षणिक आवेशों से प्रभावित हो जाये — विशेष रूप से उस प्रकार के भावावेशों से जो रोषपूर्ण सम्पादकीय लेखों या लोकप्रिय राजनीतिज्ञों के भाषणों में प्रतिबिम्बित होते हैं — तो वह निश्चय ही किसी भी प्रमुख वार्ता में सफल नहीं हो सकता। यह याद रखना हमेशा उपयोगी होता है कि समस्या का एक दूसरा पहलू भी हो सकता है जिसका अध्ययन करना महत्त्व रखता है।

—१३—

राजदूत को कोरी कल्पनाओं से गुमराह नहीं होना चाहिये और न उसे अपने विवेक को निराधार धारणाओं से कलुषित ही होने देना चाहिये। हवाई किले बनाना, अरुचिकर तथ्यों का सामना करने से कतराना, अपने देश की सरकार को ऐसी ही सूचनाएँ भेजने की प्रवृत्ति रखना जिनसे तत्कालीन विदेश मंत्रालय प्रसन्न हो — ये राजदूतों की प्रमुख कमजोरियाँ हैं जो अनेक राजनीतिज्ञों में पायी जाती हैं। 'आपरेशन सिसरो' में मोज़िच ने लिखा है कि नैचबुल हजेसेन 'द्वारा अपनी सरकार को भेजी गयी रिपोर्टों को पढ़कर फ्रैंज वान पेपेन ने कहा था कि यदि जर्मन विदेश मंत्रालय अपने कूटनीतिज्ञों को इसी ढंग से लिखने पर प्रोत्साहित करे तो वह बेहतर जानकारी प्राप्त कर सकता है। वास्तव में अब यह सुविदित है कि बहुत-से ऐसे गलत अनुमान, जिनके कारण पिछले दो महायुद्ध आरंभ हुए, कुछ राजदूतों की एकतरफा और कल्पना पर आधारित रिपोर्टों के परिणाम थे। इस प्रसंग में ब्रिटेन की परिस्थिति के बारे में रिबेनट्राप' का मूल्यांकन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

—१४—

राजनीतिक राजदूतों के बारे में यह कहा जाता है कि उनमें अन्तःप्रेरणा और सर्वसाधारण की भावनाओं के उतार-चढ़ावों को समझने की अपनी क्षमता पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति विशेष रूप से पायी जाती है और पेशेवर कूटनीतिज्ञों ने हमेशा इस बात पर जोर देने का

प्रयत्न किया है कि जो राजनीतिज्ञ कूटनीति के रहस्यों से भली भाँति परिचित नहीं होते उनके सामने क्या-क्या खतरे आ सकते हैं। फिर भी इस दौर के कुछ सफलतम राजदूत, जिन्हें अत्यन्त कठिन और जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में भाग लेना पड़ा, ऐसे लोग थे जो कूटनीतिक क्षेत्र से नहीं बल्कि राजनीतिक क्षेत्र से आये थे। वाशिंगटन में 'लार्ड लोथियन' और हैलफैक्स' और पिछले युद्ध के दौरान में मैड्रिड में सर सैमुएल होर इसके केवल तीन प्रमुख उदाहरण हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पुराने जमाने में जितने बड़े-बड़े राजदूत हुए हैं उन सबने कूटनीति को ही अपना पेशा बना लिया था। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का अद्वितीय कूटनीतिज्ञ तालेरॉ और २०वीं शताब्दी में जूलम कैंबों' के उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें याद रखना उपयोगी है।

साथ ही यह भी बात है कि जहाँ राजनीतिक राजदूतों में चीजों को बहुत सरल रूप में देखने और जल्दी सफलता प्राप्त करने की उत्सुकता की प्रवृत्ति पायी जाती है, वहाँ पेशेवर कूटनीतिज्ञों में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि वे हर चीज को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं, वे ऐसे मार्ग का अनुसरण करने के लिए बहुत उत्सुक रहते हैं जिसमें कम से कम बाधाएँ आयेँ और बहुधा वे हर बात को इस गोलमोल ढंग से कहने का पूरा प्रयत्न करते हैं कि आगे चलकर घटनाक्रम जो भी रूप धारण करे उन पर गलत बात कहने का आरोप न लगाया जा सके। फलस्वरूप, जिस सरकार का वे प्रतिनिधित्व करते हैं वह बहुधा संशय और दुबिधा में पड़ी रहती है।

-१५-

राजदूत की कल्पना जिस रूप में आम लोग करते हैं वह बहुधा भ्रान्तिपूर्ण होती है। साधारणतया उसका चित्रण इस रूप में किया जाता है कि वह बहुत मान-मर्यादा और रोब-दाबवाला व्यक्ति होता है; वह बहुत अल्पभाषी होता है और उसका व्यवहार सर्वथा औपचारिक

होता है। संभव है यह परिभाषा आम छोटे-मोटे राजदूतों पर पूरी तरह चरितार्थ होती हो पर कुछ अत्यन्त प्रतिष्ठावान राजदूत इस कसौटी पर पूरे नहीं उतरेंगे। इसका एक अनूठा उदाहरण पुरानी पद्धति के कूटनीतिज्ञ लार्ड लियन्स^१ का है जिन्होंने दो महाद्वीपों में अत्यन्त श्रेयस्कर ढंग से अपने देश की सेवा की। उनके बारे में कहा जाता है कि “वह इतने शील स्वभाव के थे कि जब वह अपनी निजी दिनचर्या में कोई छोटा-सा परिवर्तन भी करना चाहते थे तो उन्हें स्वयं अपने नौकरों को उसके अनुसार आदेश देने का भी साहस नहीं होता था। लार्ड लियन्स की यह बात भी प्रशंसनीय है कि वह पाँच वर्ष तक अमरीका में रहे पर उन्होंने वहाँ एक भी भाषण नहीं दिया और एक बार भी शराब नहीं पी। फिर भी वह व्यवहारकुशल, मिष्टभाषी, दृढ़, सहज ही मोह लेने-वाले और अपनी बात मनवा लेनेवाले व्यक्ति थे।”

—१६—

निकल्सन के मतानुसार धर्म-प्रचारक, हठधर्मी और वकील सबसे बुरे प्रकार के कूटनीतिज्ञ होते हैं।

धर्म-प्रचारक कदाचित् इसलिए बुरे होते हैं कि वे परोपकार की भाषा की आड़ में अपने देश के हितों को छुपाने का प्रयत्न करते हैं और अनिवार्यतः उनमें अपनी ही बात को न्याय्य समझने की प्रवृत्ति होती है; हठधर्मी इसलिए बुरे होते हैं कि वे समस्या के दूसरे पहलू को देख ही नहीं सकते और वकील इसलिए कि वे हर बात में बाल की खाल निकालने में ही खोकर रह जाते हैं।

निस्संदेह सबसे अच्छे प्रकार का राजदूत वह होता है, चाहे वह राजनीति के क्षेत्र से आया हो या हमेशा से कूटनीति ही उसका पेशा रहा हो, जो व्यवहारकुशल हो, समझौता करने पर तैयार रहता हो और जिसमें दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुँचाने की आदत न हो। शिष्टता तथा सम्य व्यवहार ऐसे गुण हैं जिनका कूटनीति में हमेशा

सबसे अधिक महत्त्व रहता है।

—१७—

राजदूत की कठिनाइयाँ हमेशा विदेशों की सरकारों के प्रसंग में नहीं उठतीं। बहुधा जिस सरकार से निबटने में उसे सबसे अधिक कठिनाइयाँ होती हैं वह स्वयं उसकी सरकार होती है। जिस समय ड्यूक आफ आवर्न विना में इटली के राजदूत थे, वे कहा करते थे, “हमें ‘बाल प्लाज’ के साथ उतनी कूटनीति नहीं बरतनी पड़ती जितनी ‘कनसल्टा’ के साथ।” अधिकांश राजदूतों को कभी न कभी ऐसा अनुभव अवश्य हुआ है।

—१८—

राजदूत हमेशा विस्तारपूर्ण आदेशों की प्रतीक्षा नहीं कर सकता। बहुधा ऐसा होता है कि जब ये आदेश आते हैं तो उनमें बहुत-सी बातें छूट जाती हैं या वे अनुपयुक्त होते हैं। यद्यपि आज यह बात नहीं होती, जैसी कि राबर्ट कीथ^१ को शिकायत थी, कि चालीस सरकारी खत लिखने पर उसे एक जवाब मिलता है या जैसा कि माल्मेसबरी ने कहा था कि उन्हें “कभी कोई ऐसा आदेश नहीं मिला जो पढ़ने योग्य रहा हो,” परन्तु आज भी यह बात आम तौर पर सच है कि विदेश मंत्रालयों से आनेवाले आदेश बहुधा अपर्याप्त होते हैं और समय निकल जाने के बाद आते हैं और कभी-कभी तो वे अस्पष्ट और द्विधामूलक होते हैं। इसलिए राजदूत को परिस्थिति के अपने मूल्यांकन के आधार पर ही अपनी समझ से काम लेना पड़ता है।

—१९—

अवसर को पहचानना सफल राजदूत का एक मूलभूत गुण है।
देमोस्थेनीज का कथन है, “राजदूतों के पास न तो युद्ध-श्रोत होते हैं, न तोपें, न किले; शब्द और अवसर ही उनके हथियार होते

हैं। महत्त्वपूर्ण मामलों में देखते-देखते अवसर हाथ से निकल जाता है; और एक बार अवसर निकल जाने पर दुबारा हाथ नहीं आता।”

एक समय जो चीज खुशी से दी जा सकती है उसी को दूसरे समय पर देने से साफ इंकार किया जा सकता है। इसलिए इस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिये कि वार्ता आरंभ करने के लिए सबसे उचित समय कौन-सा है। हजारों मील दूर स्थित विदेश मंत्रालय उचित अवसर का निर्णय नहीं कर सकते।

आम तौर पर यह बात हर देश की सरकार के बारे में सत्य है कि यदि कहीं उसे कोई सफलता प्राप्त हुई हो और वह उस पर प्रसन्न हो तो वह मित्रता का व्यवहार करने और न्यायपूर्ण वातावरण में आपसे मिलने को तैयार होगी। किसी सरकार के साथ दुःसाध्य वार्ता आरंभ करने के लिए सबसे खतरनाक समय वह होता है जब उसे कहीं और मुंह की खानी पड़ी हो और वह झुंझलायी हुई हो। यदि इस झुंझलाहट के कारण वह दूसरों को अपना मित्र बनाने के फेर में हो तो बात दूसरी है।

—२०—

राजदूत के लिए एक सर्वोपरि महत्त्व का गुण यह है कि उसमें चीजों को उनके उचित अनुपात में देखने की क्षमता होनी चाहिये। राजदूत चाहे वाशिंगटन, लन्दन या मास्को में ही क्यों न नियुक्त हो पर उसे यह याद रखना चाहिये कि पृथ्वी का एकमात्र केन्द्र वही राजधानी नहीं है। छोटी राजधानियों में स्थित राजदूतों को अपने बारे में जो भ्रान्त धारणाएँ होती हैं वे और भी खतरनाक होती हैं।

निकल्सन ने अपनी पुस्तक ‘करज़न — दि लास्ट फेज’ (‘करज़न—अन्तिम चरण’) में लगातार इस बात पर जोर दिया है कि ‘करज़न’ किस प्रकार मध्य-पूर्व की समस्याओं पर अनुचित जोर देता था, क्योंकि वह इस क्षेत्र से भली भौति परिचित था; इसके फलस्वरूप

अनेक गलत निष्कर्ष निकाले गये और आखिरकार यही बात उसकी वैदेशिक नीति की असफलता का कारण बन गयी।

राजदूत के लिए इस बात को भी निरन्तर ध्यान में रखना आवश्यक है कि केवल विदेश मंत्रालय में ही विश्व परिस्थिति का एक सर्वांगीण चित्र प्राप्त हो सकता है। यदि उसकी सलाह की ओर बहुधा ध्यान नहीं दिया जाता तो इसका कारण यह नहीं है कि उससे किसी को बैर है। कदाचित् ऐसा इसलिए होता है कि विभिन्न देशों से प्राप्त रिपोर्टों के आधार पर विदेश मंत्रालय जिस आम निष्कर्ष पर पहुँचा है वह उसके निष्कर्ष से पूरी तरह मेल नहीं खाता।

-२१-

राजदूत को छोटे-बड़े सभी मामलों में बराबर सख्ती दिखाने की भूल से विशेष रूप से बचना चाहिये। मूलभूत बातों के संबंध में दृढ़ता और छोटे मामलों में समझौता, यही सच्ची कूटनीति है। छोटी-छोटी बातों पर समझौता कर लेने के रवैये से दूसरों को यह आभास होता है कि हमारा रवैया आम तौर पर मित्रतापूर्ण है; इससे राजदूत को महत्वपूर्ण प्रश्नों पर बात करते समय वैमनस्य का भाव या हठधर्मी का संदेह उत्पन्न किये बिना अपनी बात पर दृढ़ रहने में सहायता मिलती है। इसके विपरीत यदि कोई राजदूत हमेशा छोटी-छोटी बातों में भी अपनी जगह से एक तिल भी न हटने का रवैया अपनाता है तो बड़ी-बड़ी समस्याएँ सामने आने पर वह अपने आपको कमजोर पाता है।

कूटनीति

—१—

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसंग में दूसरे देशों के मुकाबले में स्वयं अपने देश के हितों को बढ़ावा देने की कला को कूटनीति कहते हैं।

—२—

चूँकि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के दौरान में कूटनीतिज्ञ को ऐसे सीखे हुए और अनुभवी लोगों से निबटना पड़ता है जिनका लक्ष्य अपने देश के हित में यह होता है कि वे कम से कम देकर ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करें, इसलिए कूटनीति में प्रखर बुद्धियों का द्वन्द्व होता है।

—३—

कूटनीति में चूँकि कुछ मूल्य चुकाये बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए सबसे अच्छा कूटनीतिज्ञ वही होता है जो केवल उचित मूल्य चुकाता है। बहुत कड़ी सौदेबाजी करने से या बहुत ही कम कीमत देने से यह लक्ष्य पूरा नहीं होता क्योंकि कूटनीति का सार-तत्त्व इसी बात में है कि जहाँ तक संभव हो दोनों पक्ष संतुष्ट रहें।

—४—

कल्पनातीत सफलता में बहुधा असफलता का स्रोत निहित होता है। सफलता में संयम हर अच्छे कूटनीतिज्ञ का ध्येय होना चाहिये। थिये' का परामर्श था कि "कभी किसी को बहुत अधिक सफलता प्राप्त करने की चेष्टा न करना चाहिये।"

-५-

यह समझ बैठना हमेशा खतरनाक होता है कि आपका प्रतिद्वंद्वी मंद बुद्धिवाला है या इस बात को पूरी तरह नहीं समझता कि वह क्या चीज देने या स्वीकार करने की हामी भर रहा है।

-६-

इस बात को हमेशा याद रखना उपयोगी है कि राज्यों के पार-स्परिक संबंधों में बहुधा चीजें जिस रूप में दिखायी देती हैं या जिन शब्दों में उनका वर्णन किया जाता है, वास्तव में वे उससे भिन्न होती हैं। उदाहरण के लिए बाहर से देखने में दो राज्यों के बीच गहरी मैत्री हो सकती है पर संभव है कि उसके पीछे गहरी प्रतिद्वन्द्विता छुपी हो। यदि किसी विज्ञापित में “पूर्ण मतैक्य” की घोषणा की गयी हो तो संभव है उसका अर्थ इससे अधिक कुछ न हो कि दोनों राज्यों में इस पर मतैक्य है कि उनमें मतभेद रहे। “शान्ति को बढ़ावा देने के सम्मेलन” का उद्देश्य युद्ध का संगठन करना हो सकता है और किसी देश की प्रादेशिक स्वतंत्रता और अखंडता का आश्वासन देनेवाली संधि में उसका बैठवारा करने की गुप्त शर्तें भी शामिल हो सकती हैं।

-७-

कूटनीति एक लिपिबद्ध कला है। वार्तालाप के समय भी जिन बातों पर बहस होती है उन्हें लिख लिया जाता है। पूर्ण औपचारिकता के साथ सम्पन्न की गयी संधि से लेकर बिना हस्ताक्षर या मुहर के दे दिये जानेवाले ‘नोट वर्बल’ तक लिखित दस्तावेजों की विभिन्न श्रेणियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि अत्यन्त नपे-तुले लिखित शब्द ही कूटनीति का सार-तत्त्व हैं। यदि बातें केवल मौखिक वार्तालाप पर छोड़ दी जायें तो गलतफहमी पैदा होना अनिवार्य है। विभिन्न राष्ट्रों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है उनमें से अनेक का कारण

यही था कि बातचीत के दौरान में अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। इसलिए कटनीतिज्ञों को ऐसी सुस्पष्ट और असंदिग्ध शैली का अभ्यास प्राप्त करना चाहिये जिसमें गलत अर्थ लगाने या समझने की कोई संभावना न रह जाये। बात कहने में नपे-तुले शब्दों का प्रयोग न करना गलतफहमी को निमंत्रण देना है।

—८—

दूसरे की मूर्खता से बढ़कर धीरज को नष्ट करनेवाली कोई और चीज नहीं होती, परन्तु साथ ही धैर्यहीनता से बढ़कर मूर्खता भी दूसरी नहीं होती।

कुछ अवसर ऐसे भी होते हैं जब धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करना ही गतिवान कूटनीति होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में किसी गूढ़ उद्देश्य से निष्क्रिय रहना नकारात्मक नीति नहीं है। उचित अवसर आये बिना सक्रियता दिखाना बहुधा हानिकारक होता है। घटनाओं का मुकाबला करने के लिए राज-दूत को कभी-कभी स्वयं उनके पास न जाकर घटनाओं को अपने पास तक आने देना चाहिये; इसके बहुत फायदे हैं। कूटनीतिक संबंधों के क्षेत्र में ऐसे बहुत उदाहरण मिलते हैं जब उचित अवसर की प्रतीक्षा करके हस्तक्षेप करने से सफलता प्राप्त हो सकती थी पर अधीरता और जल्द-बाजी के कारण इस सफलता से हाथ डोना पड़ा।

बहुधा उचित अवसर की प्रतीक्षा में चुप बैठे रहने का अर्थ समय व्यर्थ करना नहीं बल्कि समय का सदुपयोग करना होता है। एक बार भीरावो^१ ने फ्रांस की संसद में भाषण करते हुए कहा था: “इस समय हमारी कार्य-विधि शान्त रहने की होना चाहिये; हमारी सेना के पैर अच्छी तरह जमे हुए हैं; हमें सावधान रहना है कि हम इस समय कोई कदम न उठायें; हमें कुछ कर दिखाने की उतावली से बचकर रहना है।”

-९-

अमैत्रीपूर्ण शक्तियों के साथ बातचीत करते समय कूटनीतिज्ञ की मुद्रा ऐसी रहना चाहिये कि उसकी आन्तरिक भावनाएँ प्रकट न हो सकें और उसकी भाषा समझौते की नरम भाषा होने के साथ ही सुस्पष्ट हो। उसे गंभीर मुद्रा धारण करने और शिष्टाचार के सभी नियमों का पालन करते हुए नपे-तुले आवेशरहित शब्दों में बोलने का अभ्यास करना चाहिये।

-१०-

अमैत्रीपूर्ण राज्य की राजधानी में यह विशेष रूप से आवश्यक होता है कि राजदूत अपने आपको वचनबद्ध किये बिना हर समय अपनी सरकार की नीति से आम तौर पर मेल खाते हुए संतोषजनक उत्तर दे सके।

-११-

यदि हम किसी बात के लिए पूरी तरह तैयार न हों तो उसे कुछ समय के लिए टाल देना कूटनीति की एक महत्वपूर्ण युक्ति है।

-१२-

कूटनीति में हमें यह न भूल जाना चाहिये कि जब आपके प्रति-द्वन्द्वी का पक्ष कमजोर होता है तो वह समझौता कर लेने के लाभों के बारे में पिटे-पिटाये तर्क देता है। बहुधा कमजोर तर्कों को मित्रता और शान्ति चाहनेवाले सुहृदय लोगों के सामने इस आड़ में छुपाकर प्रस्तुत किया जाता है; परन्तु हर कूटनीतिज्ञ को जानना चाहिये कि स्थायी शान्ति केवल न्याय और वैध अधिकारों की पूर्ति के आधार पर ही स्थापित हो सकती है। दूसरे का हठ पूरा करके उसे संतुष्ट करना आत्म-समर्पण है।

—१३—

राजनीतिक रिपोर्टें यथार्थतापूर्ण, तथ्यों पर आधारित और बहुत विवेकपूर्ण होनी चाहिये। यह बहुत आवश्यक है कि उन तथ्यों को भी, जो संभव है अपनी देश की सरकार को रुचिकर न हों, छुपाया न जाये। रिपोर्ट का उद्देश्य यह होना चाहिये कि अपनी सरकार परिस्थिति का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सके। इसलिए राजदूत को अपना मत सुस्पष्ट, तर्कपूर्ण और दृढ़ शब्दों में भेजने के साथ ही ऐसी सामग्री भी भेजना चाहिये जिसके आधार पर सरकार स्वयं अपने निष्कर्ष निकाल सके।

राजदूत को घटनाओं के बीच रहकर भी उनसे अलग रहना चाहिये। इसी प्रकार उसमें आवश्यक यथार्थपरायणता आ सकती है। उसकी रिपोर्टों में केवल अफवाहों, कोरी कल्पनाओं और मित्र-गोष्ठियों की गप-शप का संग्रह न होना चाहिये। उनमें मुख्यतः राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों के अध्ययन तथा अवलोकन पर आधारित विश्लेषण होना चाहिये।

—१४—

जब दूचेस दि दूरा ने शैटूब्रायों को अपनी रिपोर्टों में राजनीति की उच्च समस्याओं पर विचार करने के लिए डौटा था तो उसने ठीक ही उत्तर दिया था, “मैं तो अपने ही स्तर पर निशाना लगाता हूँ।” इसमें तो संदेह नहीं कि अधिकांश रिपोर्टें निम्न पदाधिकारी ही पढ़ते हैं, परन्तु हर राजदूत को यह याद रखना चाहिये कि, यदि उसकी रिपोर्टों का कुछ महत्त्व होगा तो वे सर्वोच्च पदाधिकारियों तक पहुँच जायेंगी।

—१५—

दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंध स्थापित करने के लिए अपने मूलभूत लक्ष्यों को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये और उनकी प्राप्ति के लिए

अविचलित रूप से काम करना चाहिये, परन्तु परिस्थितियों, आम बातावरण, प्रमुख व्यक्तियों, आन्तरिक घटनाओं की प्रगति आदि के अनुसार उनकी प्राप्ति के साधन बदलते रहना चाहिये।

—१६—

अपने प्रतिरोधियों की दलीलों में तर्क की दृष्टि से अत्यन्त ज्वलंत त्रुटियाँ निकाल लेना तो बहुधा बहुत आसान होता है। सामान्य बुद्धि के सरल नियमों की दृष्टि से किसी राज्य की माँगें देखने में अनुचित प्रतीत हो सकती हैं और उनके समर्थन में दिये जानेवाले तर्क भ्रान्त और अमान्य हो सकते हैं। परन्तु यदि इन आवश्यकताओं को टाला न जा सकता हो तो वह राष्ट्र अपने पक्ष में यथासंभव सर्वोत्तम तर्क प्रस्तुत करने पर बाध्य हो जाता है और हर कूटनीतिज्ञ इस बात को मानकर चलता है कि बुरा तर्क देना कोई तर्क न देने से तो अच्छा ही है। यह समझना चाहिये कि किसी राज्य ने किन आवश्यकताओं और विचारों से प्रेरित होकर कोई विशेष कदम उठाया है और उनकी तर्कहीनता या अनौचित्य पर संतुष्ट होकर बैठ रहने के बजाय उनका निवारण करना चाहिये, अन्यथा हमारे कूटनीतिज्ञ बहुत बड़ी-बड़ी गलतियाँ करेंगे।

आधुनिक इतिहास में तैवान की समस्या इसका एक उदाहरण है। इस संबंध में संयुक्त राज्य अमरीका के तर्कों की त्रुटियाँ और अन्तर्विरोध बताना तो बहुत आसान है, परन्तु कुछ कारणों से जिन्हें वह सर्वोपरि महत्त्व देता है, संयुक्त राज्य अमरीका ने एक विशेष नीति अपनायी है और हमें उससे तर्क के आधार पर नहीं बल्कि कूटनीतिक विधियों से निबटना है। कई और उदाहरण भी दिये जा सकते हैं : जैसे कोरिया में चीन की कार्यवाहियाँ।

—१७—

मैकायवेली ने, जिसे आधुनिक कूटनीति का जन्मदाता कहा जा सकता है, यह परामर्श दिया था कि “जब मलाई करो तो थोड़ी-थोड़ी

करके और जब कोई बुराई करो तो एक दम से।”

राज्यों के पारस्परिक संबंधों में यह सिद्धान्त बहुत अधिक महत्त्व रखता है। यदि किसी राज्य के हित के विरुद्ध कोई काम करना हो तो हमेशा यही अच्छा होता है कि उसे बड़े आपरेशन की तरह एक साथ ही समाप्त कर दिया जाये, इसमें कष्ट तो होगा पर काम पूरा हो जायेगा, उस समय तो बड़ी पीड़ा होगी पर बाद के लिए कोई झंझट नहीं रह जायेगा। इसके विपरीत यदि धीरे-धीरे कचोके लगाने की नीति अपनायी गयी, थोड़ी बुराई को बहुत लम्बे समय तक के लिए फैला दिया गया, तो संबंध हमेशा के लिए खराब हो जायेंगे।

भलाई करने में इसका बिल्कुल उल्टा होता है। पुष्टिदायक औषधि की तरह थोड़े-थोड़े समय के बाद उसे छोटी-छोटी खूराकों में देने से ही अधिक लाभ होता है। दीर्घकाल तक कई छोटे-छोटे मित्रतापूर्ण कार्यों का प्रभाव एक उपकार की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ेगा, वह उपकार कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, क्योंकि सर्वसाधारण थोड़े समय बाद उस उपकार को भूल जायेंगे।

—१८—

“यदि आप अपने शत्रु के व्यवहार को अनुचित ठहराना चाहते हैं या उसके यश को कलंकित करना चाहते हैं तो उस पर उसी दोष का आरोप लगाइये जो आप स्वयं अपने अन्दर अनुभव करते हों।” तुर्गनेव^१ के इस कथन में एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है जिसे कुछ कूटनीतिज्ञ अच्छी नीति मानते हैं। काश्मीर की समस्या पर पाकिस्तान का उत्तर और भारत के विरुद्ध उसका ‘नरसंहार’ का आरोप इसके उदाहरण हैं।

—१९—

एक तरीका, जिसे मुसोलिनी ने सफलतापूर्वक काम में लाने का प्रयत्न किया, यह था कि किसी समस्या को हल करने के लिए बार्सा

आरंभ करने से पहले वह उस देश के साथ अपने संबंध जान-बूझकर बिगाड़ लेता था। इस प्रकार वह एक नयी समस्या खड़ी कर देता था जिस पर वह अपनी आन खोये बिना किसी नयी चीज के बदले समझौता कर सकता था। फ्रांस के साथ एक आम समझौते की वार्ता आरंभ करने से पहले, जिसका मुख्य लक्ष्य ट्यूनिस् के संबंध में इटली के दावे की संतुष्टि कराना और अफ्रीका में आम तौर पर अपनी नीति के लिए समर्थन प्राप्त करना था, मुसोलिनी ने विद्यार्थियों के आन्दोलन, प्रदर्शनों आदि के पुराने हथकंडों का प्रयोग करके नाइस और कार्सिका के वापस दिये जाने के लिए एक प्रचंड आन्दोलन शुरू किया। बाद में इन मौकों के बारे में कुछ नरम पड़कर उसने अबीसीनिया में अपनी नीति के लिए फ्रांस का गुप्त समर्थन प्राप्त किया और ट्यूनिस् के संबंध में काफी रियायतें हासिल कीं।

—२०—

शान्त, धैर्यपूर्ण तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का तरीका अपनाने से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं, क्योंकि इस प्रकार के व्यवहार से आपके प्रतिरोधी को आपकी ईमानदारी पर विश्वास हो जाता है।

जिस देश में आप नियुक्त किये गये हैं, यदि वहाँ का विदेश मंत्रालय यह अनुभव करे कि आप उसे फँसाने की या किसी विशेष परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाने की ताक में नहीं हैं और अपने देश के हितों पर दृढ़ रहते हुए भी आप दूसरे देश की कठिनाइयों को समझते हैं, तो आपका काम सुचारु रूप से चलता रहेगा और उससे संतोषजनक परिणाम प्राप्त होंगे, आपकी सफलता कल्पनातीत या चामत्कारिक भले ही न हो।

दृढ़ता और न्यायप्रियता के संबंध में अपनी साख बिठाने के लिए दो बातें आवश्यक हैं।

पहली तो यह कि स्वयं आपके दिमाग में यह बात स्पष्ट हो कि आपके देश के कौन-से हित ऐसे हैं जिन पर आप तिर भर भी पीछे नहीं

हटेंगे; और दूसरी यह कि जिस देश में आप नियुक्त हों वहाँ के विदेश मंत्रालय को साफ-साफ शब्दों में यह बात बता दी जाये।

ऐसा कर लेने से अन्य समस्याओं के संबंध में आदान-प्रदान की नीति का पालन करना संभव हो सकेगा।

—२१—

कूटनीतिज्ञ को अपने हृदय में घृणा की भावना नहीं रखना चाहिये। उसका व्यवहार शिष्ट और मैत्रीपूर्ण होना चाहिये और जब उसे किसी बात का विरोध करना हो तो उसे उग्रतापूर्वक नहीं बल्कि नरमी से विरोध करना चाहिये। शान्त स्वर में 'नहीं' कहने का उतना ही प्रभाव होता है जितना सामने बैठे हुए आदमी से चिल्लाकार 'नहीं' कहने का और इसमें दूसरा आदमी बुरा भी कम मानता है। जब कभी आपको अरुचिकर बातें कहने का कर्तव्य निभाना पड़े तो राजनीतिक आवश्यकता को निभाने के साथ ही आपको अपना शिष्ट व्यवहार भी बनाये रखना चाहिये।

—२२—

कूटनीति में क्रोध एक बहुत खतरनाक हथियार है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब क्रोध दिखाने के कारण बना-बनाया काम बिगड़ गया है। १८१३ में नेपोलियन और मेटरनिख का संवाद इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है। परन्तु यदि दूसरे को उकसाने और बनावटी क्रोध दिखाने का तरीका सावधानी से इस्तेमाल किया जाये तो उससे भी लाभ हो सकता है। जॉन फास्टर डलेस ने अपनी पुस्तक 'वार एंड पीस' (युद्ध और शान्ति) में निम्नलिखित घटना का उल्लेख किया है :-

“श्री बेविन स्पष्टवादी और सुहृद व्यक्ति थे, जरा-सी बात पर उन्हें क्रोध आ जाता था पर जल्द ही वह अपने क्रोध पर पाश्चाताप भी करने लगते थे। श्री मोलोतोव उन्हें उसी प्रकार छेड़ते थे जैसे सौंड

से लड़नेवाले सौंड को छेड़ते हैं; वह ऐसी छोटी-छोटी चुटकियाँ लेते रहते थे कि श्री बेविन का क्रोध भड़क उठता था पर शीघ्र ही वह इस तरह पलटते थे कि मानो कोई रियायत करने को तैयार हों। एक बार क्रोध में आकर उन्होंने कह दिया कि श्री मोलोटोव हिटलर की तरह बातें करते हैं। श्री मोलोटोव उछलकर खड़े हो गये और बोले कि वह ब्रिटेन के विदेश मंत्री के हाथों अपमानित होने के लिए लन्दन नहीं आये हैं। वह अपनी कुर्सी छोड़कर दरवाजे की तरफ चल दिये। श्री बेविन ने आवेश में कहे हुए अपने शब्दों को बड़ी व्यथित मुद्रा बनाकर जल्दी से वापस ले लिया और यह साबित करने के लिए कि वह सच्चे हृदय से ऐसा कर रहे हैं उन्होंने उस बात को मान लिया जिस पर उस समय बहस हो रही थी।”

—२३—

कूटनीति में आपको यह कभी न भूलना चाहिये कि अपनी बात मनवा लेने के बाद भी आप इस बात की गुंजाइश रखें कि आपका प्रति-रोधी यह समझ सके कि उसकी इज्जत बच गयी। कूटनीति में सबसे अच्छी सफलता वही होती है जिसमें दोनों पक्ष यह दावा कर सकें कि उनका कुछ लाभ हुआ है।

—२४—

यदि अपने हित स्वार्थपूर्ण भी हों तब भी राजदूत को अपने विचार सर्वोपकार की भाषा में व्यक्त करने चाहिये। कूटनीतिज्ञ तो एक-दूसरे को अच्छी तरह समझते हैं पर आम जनता हमेशा यही समझती है कि स्वार्थपूर्ण उद्देश्य बुरे होते हैं।

—२५—

कूटनीति में “पीड़ित की भूमिका” धारण करना हमेशा लाभ-दायक होता है।

ब्रिटेन के कूटनीतिज्ञ इसमें विशेष रूप से निपुण हैं। बहुधा वे भेड़िये और मेमनेवाली कहानी के ढंग की शिकायतें भी करते हैं पर हमेशा वे पीड़ित की ही भूमिका धारण करना पसंद करते हैं। काश्मीर का उदाहरण इस प्रकार के रवैये का एक बहुत ही ताजा उदाहरण है जिसमें आक्रमणकारी ऐसा जताता है जैसे वह स्वयं दूसरे के आक्रमण का शिकार हो। इस मामले में पाकिस्तान अपने आपको निर्दोष और दूसरे के आक्रमण का शिकार साबित करने की चाल में प्रायः सफल भी हो गया था।

—२६—

कोई भयंकर गलती करके उस पर अड़े रहने का परिणाम अत्यन्त विनाशकारी होता है। नये चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में शामिल करने से इंकार करना इसका उदाहरण है। इस गलती पर अड़े रहने के कारण उत्तरोत्तर अधिक भयानक संकटमय परिस्थितियाँ उत्पन्न होती जा रही हैं। साधारणतया इस प्रकार की हठधर्मी का कारण राजनीतिज्ञों का बंम और राष्ट्रों की अहंकार की भावना होती है।

—२७—

औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों ही प्रकार की दावतों और प्रीति-भोजों आदि को हमेशा ही से कूटनीतिज्ञों के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। ऐसा समझना उचित भी है क्योंकि इससे कूटनीतिज्ञों के जीवन की शोभा बढ़ने के अतिरिक्त उन्हें उन लोगों से अनौपचारिक मैत्री स्थापित करने का अवसर मिलता है जिनके साथ उन्हें सरकारी काम पड़ता रहता है। चूँकि कूटनीति का सरकारी काम एक अत्यन्त नपी-तुली लिखित कला है इसलिए अनौपचारिक सम्पर्कों के अवसर बहुत महत्त्व रखते हैं, जब गैर-सरकारी ढंग से दूसरों की प्रतिक्रियाओं का पता लगाया जा सकता है और बचनबद्ध हुए बिना मतों का आदान-प्रदान हो सकता है।

राजदूतों के लिए इससे भी बढ़कर आवश्यक यह है कि जिन लोगों से उनका काम पड़ता है, उनके व्यक्तित्व की उन्हें सच्ची जानकारी हो; वे एक-दूसरे के सोचने के ढंग को समझें और जिस देश में वे नियुक्त किये जायें वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों की योग्यता, ईमानदारी और पिछले जीवन के बारे में अपना मत निर्धारित करें।

एक बात यह भी है कि किसी भी राजधानी में कोई राजदूत अकेला नहीं होता। उसके अतिरिक्त वहाँ दूसरे देशों के राजदूत भी होते हैं जो बहुधा उसकी नीति के विरुद्ध काम करने का प्रयत्न करते हैं और जो कम से कम उसकी कार्यवाहियों को संदेह की दृष्टि से तो देखते ही हैं। प्रीति-भोजों में कूटनीतिज्ञों को केवल अपनी ही नहीं बल्कि दूसरों की गतिविधि देखने का भी अवसर मिलता है और अनेक उदाहरणों में दूसरे की गतिविधि का महत्त्व उतना ही होता है जितना स्वयं अपनी गतिविधि का।

-२८-

कूटनीतिक क्षेत्र में स्त्रियों की हमेशा एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

नेपोलियन ने वारसा में अपने राजदूत को यह परामर्श दिया था: "सबसे बड़ी बात यह है कि स्त्रियों के महत्त्व को ध्यान में रखना।"

पहले ज़माने जैसा तो नहीं परन्तु आज भी समाज में ऊँचा स्थान रखनेवाली स्त्रियों का कूटनीति में बड़ा महत्त्व है। राजदूत के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ भी संभव हो वह प्रतिष्ठा और प्रभाव रखने वाली स्त्रियों के साथ निकट सामाजिक संबंध रखे और बहुधा उन पर यही जताये कि वह उनकी सलाह और सहायता ले रहा है।

-२९-

जूल्स कौबों ने अपनी पुस्तक 'डिप्लोमैट' (कूटनीतिज्ञ) में बड़ी बुद्धिमत्ता की बात लिखी है कि "किसी देश को जानने का अर्थ

होता है उसकी आत्मा में प्रवेश करना । इसमें सफल होने के लिए राजदूत को केवल मंत्रियों और राजनीतिज्ञों से ही बात करके संतोष नहीं कर लेना चाहिये। बहुधा ऐसा होता है कि उसे गंभीर वाद-विवाद की अपेक्षा स्पष्टतः हल्के-फुल्के वार्तालाप के दौरान में अधिक जानकारी प्राप्त हो जाती है। अपने सामाजिक जीवन में वह जिन प्रतिष्ठित महिलाओं के सम्पर्क में आता है उनकी सहानुभूति उसके लिए अमूल्य मिद्ध होगी।”

यह केवल इंग्लैंड जैसे अभिजात-वर्गीय समाजों में और उन देशों में संभव हो सकता है जहाँ का सामाजिक जीवन स्वतंत्र तथा उन्मुक्त और उच्च स्तर की संस्कृति पर आधारित है, जैसे योरप और अमरीका के मुख्य-मुख्य देश और एशिया के कुछ देश। परन्तु इन देशों में भी आजकल स्त्रियों को वह राजनीतिक महत्त्व प्राप्त नहीं है जो पुराने ज़माने में प्रिंसेस डि राज़ीवेल या डचेज़ आफ़ सेमोनेता को प्राप्त था। और न ही अब रनवास की कूटनीति का उतना प्रचलन है जितना १८वीं शताब्दी में था, जबकि एक अंग्रेज राजदूत (हैरिस^१) को वार्ता करने के लिए एक साम्राज्ञी के साथ प्रेमालाप करना पड़ा था और जब शासकों के हृदय पर शासन करनेवाली रखैलों के इशारे पर राज्य की नीति बदल दी जाती थी। परन्तु आज भी कई देशों में इस बात का महत्त्व बिल्कुल खत्म नहीं हुआ है।

नये लोकतांत्रिक देशों में, जहाँ किसी भी प्रकार का सामाजिक सम्पर्क रखने से कूटनीतिज्ञों को निरुत्साह किया जाता है, वहाँ कूटनीति में से इस उपकरण का सर्वथा लोप हो गया है।

पुरानी और नयी कूटनीति

-१-

सामान्य अर्थ में कूटनीति उतनी ही पुरानी है जितनी राज्यों की उत्पत्ति । परन्तु परस्पर शान्ति की भावना रखनेवाले राज्यों के बीच एक सुव्यवस्थित माध्यम द्वारा और सुनिश्चित कार्य-पद्धति तथा सर्वमान्य उपायों के आधार पर नियमित रूप से संबंधों की स्थापना अपेक्षाकृत बहुत बाद की बात है। उसकी उत्पत्ति १५वीं शताब्दी के अन्त में योरप में विकसित होनेवाली राज्य-पद्धति से हुई।

इसलिए सीमित अर्थ में कूटनीति का जो विकास तथा प्रगति हुई है उसका इतिहास केवल ५०० वर्ष पुराना है। सन् १९१४ में जब विश्व राजनीति के मुख्य तथ्य के रूप में योरपीय राज्य-पद्धति का अन्त हुआ तो उसके साथ ही इस कूटनीति का भी अन्त हो गया।

सन् १५०० से १९१४ तक के काल में अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति का मुख्य उद्देश्य मित्र बनाना (और दूसरों के मित्रों को उनसे तोड़ना) था। परन्तु यह एक “घर की सी” बात थी जिसमें न किसी के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न होती थी और न उग्र वैमनस्य ही, क्योंकि राजतंत्र तथा अभिजात वर्ग के शासनकाल में योरप मूलतः एक ही सम्प्रदाय के समान था जिसमें पश्चिमी योरपीय एकता की बहुत गहरी भावना थी। इसलिए पुरानी कूटनीति एक मैत्रीपूर्ण, उदार और शिष्ट कला थी, जिसकी साधना बड़ी दक्षता के साथ की जाती थी और जिसमें अत्यधिक पारस्परिक सहिष्णुता बरती जाती थी।

नयी कूटनीति अपने पूरे जोर पर सन् १९१८ में आयी जब अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों ने विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया। सन् १९१८ से पहले मध्य-पूर्व और एशिया (जापान को छोड़कर) कूटनीति के विषय

मात्र थे। वे योरप के कूटनीतिक झगड़ों के अखाड़े थे। बर्लिन-बगदाद रेलवे पर झगड़ा, ईरान के बारे में अंग्रेजों और रूसियों की संधि, १९वीं शताब्दी का चीन का इतिहास और फाशोदा की घटना—ये केवल कुछ उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वारसाई की संधि से पहले कूटनीति में एशिया और मध्य-पूर्व का महत्त्व केवल संघर्ष के क्षेत्रों के रूप में था।

सन् १९३५ तक पहुँचते-पहुँचते मध्य-पूर्व एक स्वतंत्र राजनीतिक क्षेत्र बन गया।

दूसरे महायुद्ध के बाद एशिया के देशों ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया।

आनल्ड टायनबी^१ ने बताया है कि सन् १९१९ से पहले केवल १६ छोटे-छोटे राज्य ऐसे थे जो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में गंभीरतापूर्वक भाग लेते थे और इनमें से १५ राज्य योरप में थे।

सन् १९१९ के बाद यह संख्या बढ़कर ४७ हो गयी, जिसमें से योरपीय देश केवल २२ थे।

सन् १९४९ के बाद अकेले संयुक्त राष्ट्र संघ में यह संख्या और बढ़कर ६० तक पहुँच गयी है और यह वृद्धि मुख्यतः भारत, पाकिस्तान, बर्मा, इन्डोनेशिया, यमन, लेबनान, सीरिया आदि एशियाई देशों के इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के नये सदस्य बन जाने के कारण हुई है।

इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों और कूटनीति का कार्य-क्षेत्र अब केवल योरपीय राष्ट्रों, संयुक्त राज्य अमरीका और जापान तक ही सीमित नहीं रह गया है, जो बाकी दुनिया को अपनी कार्यवाहियों का क्षेत्र समझते थे। नयी कूटनीति के संबंध में प्रथम तथ्य यही है।

दूसरा तथ्य है पुराने शक्ति-संतुलन का नष्ट हो जाना और फल-स्वरूप शक्तियों के पारस्परिक संबंधों में परिवर्तन। दो महाद्वीपों में फैले हुए एक महान औद्योगिक राष्ट्र के रूप में सोवियत संघ के उदय ने दूसरे महायुद्ध से पहले ही कूटनीति की परम्परागत पद्धति को नष्ट कर दिया था। परन्तु हिटलर और उसके साधियों की पराजय के बाद

यह असंतुलन पूरी तरह स्पष्ट हो गया है और आज दुनिया दो दलों में बँट गयी है।

कूटनीति के पुराने सिद्धान्त इस परिस्थिति में बेकार हो गये हैं और एक ही सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र के राज्यों के पारस्परिक व्यवहार के दौरान में जो विधियाँ परिमार्जित की गयी थीं वे अब इन दो सर्वथा भिन्न संसारों के आपसी व्यवहार में काम नहीं आ सकतीं।

नयी कूटनीति के विचित्र लक्षण, उसका खुला प्रचार, उसकी गाली-गलौज, उसकी “दृढ़” माँगें और उसमें सुनिश्चित नियमों तथा कौशल का अभाव इसी बात का परिणाम हैं।

कूटनीति का काम केवल सहमति के ही क्षेत्र में हो सकता है, वह कितना ही सीमित क्यों न हो। आज दुनिया के दो भागों के बीच एक बहुत गहरी खौई है। इसलिए दोनों पक्ष अपने अलग-अलग ढंग से बात करते हैं, जिसे दूसरा पक्ष सचमुच नहीं समझ पाता। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि दुनिया के दो भागों के पारस्परिक संबंध कूटनीति द्वारा नियंत्रित नहीं होते।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के संचालन की इस नयी विधि की लाक्षणिकताएँ क्या हैं? इसकी मुख्य विशिष्टताएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) सरकार की परवाह न करते हुए विरोधी पक्ष के देशों की जनता से सीधे-सीधे निवेदन करना।

इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं।

(२) मिथ्या आरोप लगाकर, गाली देकर, निंदा करके और अन्य तरीकों से किसी सड़कार को बदनाम करने का प्रयत्न। बड़े-बड़े राज्यों के प्रधानों के भाषणों में भी इसका उदाहरण मिलता है।

(३) सामाजिक सम्पर्कों पर पाबन्दी : कम्युनिस्ट तथा “नये लोकतांत्रिक” देशों में ऐसे विदेशवासियों के साथ, जिन्हें सरकार न चाहे, सामाजिक संबंध रखने पर कड़ी पाबन्दी है। कूटनीतिक संबंध

केवल सरकारी स्तर पर रखे जाते हैं। दूसरे पक्ष के देशों में भी कम्युनिस्टों को विध्वंसकारी और विरोधी तत्व समझा जाता है और इन दो भिन्न संसारों के बीच कोई मित्रों जैसा व्यवहार नहीं है। जानबूझकर इस बात की कोशिश की जाती है कि जहाँ तक संभव हो एक-दूसरे को प्रभावित करने के अवसर न्यूनतम हों।

(४) परोक्ष वार्ता की कोई संभावना बाकी नहीं रखी गयी है। इसके बजाय वार्ता की शतों के रूप में मौगों को ज्यादा से ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर और बहुधा आपत्तिजनक भाषा में पेश किया जाता है।

यह लोकतांत्रिक यथार्थवाद की लाक्षणिकता है।

(५) एक तरफ से शस्त्रास्त्रों के लिए स्वीकृत विपुल धनराशि का और दूसरी तरफ से हड़तालें, सभाओं, आन्दोलनों आदि का ढिंढोरा पीटकर अपने प्रतिरोधी को डराने के भोंडे प्रयत्न। पश्चिमी लोकतंत्रों के अखबार ऐसे प्रचार से रंगे रहते हैं जिसका उद्देश्य कम्युनिस्टों के दिलों को दहला देना होता है। दूसरी ओर 'तास' प्रतिदिन संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस, इंग्लैंड आदि देशों "व्यापक क्षेत्रों में" सोवियत संघ के पक्ष में प्रतिरोध के समाचार प्रसारित करता रहता है।

-२-

यह सब कुछ इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जब अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की एक नयी पद्धति का विकास हो रहा है। पुरानी पद्धति के अवशेष अभी तक हमारे मार्ग में बाधा डालते हैं: हम पुरानी विधियों से काम करने का प्रयत्न करते हैं पर वे व्यर्थ सिद्ध होती हैं, और जब तक नयी विधियाँ निर्धारित नहीं हो जाती और सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय आचरण-पद्धति की पुनर्स्थापना नहीं हो जाती तब तक राज्यों के पारस्परिक संबंध अनिश्चित रहेंगे और उनमें अप्रत्याशित उथल-पुथल होती रहेगी।

जब भी कोई नयी शक्ति आगे बढ़कर बड़ी शक्तियों के बीच

अपना स्थान बना लेती है तो अनिवार्य रूप से कूटनीति में एक संकट आ जाता है। जैसा कि ऐबट ने अपनी पुस्तक 'एक्सपेंशन आफ़ योरप' (योरप का विस्तरण) में लिखा है :

“उन विविध घटनाओं में से, जो किसी युग को इतिहास में स्मरणीय बना देती हैं, कोई भी इतनी ज्वलंत नहीं होती जितना कि विश्व की शक्तियों के बीच उनके बराबर शक्ति रखनेवाले या उनसे अधिक शक्तिशाली राज्य का उदय। उससे पहले प्रायः अनिवार्यतः मंद विकास का एक लम्बा काल आता है; फिर कुछ असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाने से अथवा किसी व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा या योग्यता के कारण इस समस्या का त्वरित निवारण आवश्यक हो जाता है और इसकी परिणति बहुधा एक भयंकर उथल-पुथल में होती है, शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करके झगड़े का निबटारा होता है जिसमें अपार शक्ति और धन-दौलत व्यय होती है और खून की नदियाँ बहायी जाती हैं और जिस राष्ट्र-वृन्द में यह नयी शक्ति जबरदस्ती अपना स्थान बना लेती है उसकी अन्य शक्तियों का वैभव अपेक्षाकृत कम हो जाता है और उन्हें आपस में कुछ हेर-फेर करके अपनी-अपनी स्थिति नये सिरे से निर्धारित करना पड़ती है। थोड़ी-थोड़ी अवधि के बाद बार-बार घटित होनेवाला इतिहास का यह क्रम राजनीति के रंगमंच पर प्रगति और विनाश दोनों ही की मुख्य प्रेरक शक्ति के रूप में आता है।”

विश्व के रंगमंच पर एक नये महान राष्ट्र के आ जाने से शक्तियों की पारस्परिक स्थिति बदल जाती है और कूटनीति में एक भीषण संकट आ जाता है। १९वीं शताब्दी में जर्मनी का उत्थान इसका एक उदाहरण है; जापान का उत्थान इससे भी ज्वलंत उदाहरण है क्योंकि इसके कारण ऐसे मूलभूत परिवर्तन हुए जिनसे लोग इससे पहले परिचित नहीं थे। परन्तु पिछले ५०० वर्षों के इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में आम तौर पर और कूटनीतिक संबंधों में खास तौर पर संसार की दो समकालीन प्रणालियों के नेताओं के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका

और सोवियत संघ के उदय के कारण जितने क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए उतने किसी दूसरी घटना के कारण नहीं हुए थे।

इस प्रकार जो संकट उत्पन्न हुआ था वह क्रान्तिकारी चीन के पूरी शक्ति के साथ रंगमंच पर आ जाने के कारण और भी गहरा हो गया। इस एक बात के कारण सुदूर-पूर्व में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सारी भूतपूर्व मान्यताएँ सहसा चकनाचूर हो गयीं। पिछली एक शताब्दी से सुदूर-पूर्व की स्थिति योरपीय और अमरीकी प्रभुत्व के ठोस तथ्य पर आधारित रही है। चीनी क्रान्ति की विजय से इस प्रभुत्व का अन्त हो गया। परन्तु दुर्भाग्यवश पश्चिमी राष्ट्र अपने कूटनीतिक संबंधों में आवश्यक परिवर्तन नहीं कर सके हैं।

इस प्रकार के परिवर्तन की राह में दो मुख्य बाधाएँ हैं। पहली बाधा तो यह है कि चीन के ऐतिहासिक रूप के बारे में उनका पुराना भ्रम अभी तक बना हुआ है। योरपीय राष्ट्रों को वह समय याद है जब अबसे कुछ ही वर्ष पहले तोपों से लैस एक जहाज की धमकी दिखाकर चीन को दबाया जा सकता था और वे अब तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि चूँकि उस देश का नाम अब भी चीन है इसलिए इतिहास की दृष्टि से भी वह अब तक वही पुराना चीन है। फलस्वरूप ये राष्ट्र इस परिवर्तन को स्वीकार करने से इंकार करते हैं। कोरिया में इतना भीषण युद्ध देखने के बाद ही अमरीकियों की समझ में आया कि यह नया चीन है, वह पुराना भ्रष्ट और अशक्त शासन नहीं है जिससे वे परिचित थे।

दूसरी बाधा वर्णभेद की है। योरप की श्रेष्ठता का विचार अब तक पूर्ववत् चला आता है और योरपवासियों तथा अमरीकियों के लिए इस अरुचिकर सत्य को स्वीकार करना आसान नहीं है कि पूर्व में उनके वैभव के दिन पूरे हुए।

इसलिए पिछले सौ वर्षों में पूर्वी देशों में जिस कूटनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया गया था वह बिल्कुल नष्ट हो गयी है।

नयी कूटनीति में प्रचार का महत्त्व

-१-

कूटनीतिक वार्ता मुख्यतः एक गुप्त कार्य-विधि है : इसके लिए वार्ता के दौरान में विवेकहीन प्रचार से बढ़कर हानिकारक कोई दूसरी चीज नहीं होती और प्रचार तो प्रायः सारा ही विवेकहीन होता है।

चतुर लोगों ने वार्ता में अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रचार का सफल प्रयोग किया है। इस कला में सबसे बड़े प्रवीण कैनिंग और बिसमार्क थे, जो बहुधा अपनी नीति को सफल बनाने में जनमत को अपने अनुकूल बनाने के लिए उचित-अनुचित हर साधन का निस्संकोच प्रयोग करते थे।

जिन दो प्रमुख उदाहरणों में बिसमार्क ने प्रचार के तरीकों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया वे ये हैं :

आस्ट्रिया के युद्ध के बाद फ्रांस के साथ वार्ता के दौरान में बिसमार्क को फ्रांसीसी राजदूत से एक गुप्त मंत्री-संधि का मसविदा मिला जिसमें नेपोलियन तृतीय ने जर्मन भूमि का कुछ भाग माँगा था। बिसमार्क ने इस प्रस्तावित संधि को ठुकरा दिया परन्तु इस बात का पूरा प्रबंध कर लिया कि यह प्रस्ताव और उसकी अस्वीकृति दोनों ही पेरिस में विरोधी पक्ष के समाचारपत्र के हाथ में पड़ जायें। इस रहस्योद्घाटन का इतना भयंकर परिणाम हुआ कि फ्रांस के विदेश मंत्री को इस्तीफा देना पड़ा।

दूसरी बार, बिसमार्क के साथ अपनी वार्ता के आधार पर फ्रांसीसी राजदूत बेनेदेत्ती ने एक स्मरणार्थ पत्र (एडी मेम्वायर) तैयार किया था जिसका आशय यह था कि प्रशा इस बात पर सहमत हो जाये कि फ्रांस बेल्जियम को अपने राज्य में मिला ले। बिसमार्क ने यह कागज अपने

पास रख लिया और सन् १८७० में जब फ्रांस ने युद्ध की घोषणा की तो उसके एक सप्ताह के भीतर ही इसे 'टाइम्स' अखबार में छपवा दिया और इस प्रकार ब्रिटेन की जनता की सहानुभूति प्राप्त करने में सुविधा हो गयी।

ब्रेस्त-लितोव्स्क में ट्राट्स्की ने पहली बार प्रचार को वार्ता के एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया। यद्यपि ट्राट्स्की को विश्व जनमत को सम्बोधित करने में सफलता नहीं मिली फिर भी ट्राट्स्की ने जिस पद्धति की नींव डाली थी वह कुछ देशों के कूटनीतिक व्यवहार की स्थायी विशिष्टता बन गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलात में प्रचार के प्रसंग में दो महत्त्वपूर्ण बातों के अन्तर को देखना आवश्यक है।

एक प्रचार तो होता है अपने पक्ष में अनुकूल विचार-विनिमय के लिए उचित अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तैयार करने के लिए।

दूसरा प्रचार होता है उस समय जब वार्ता चल रही हो।

पहले प्रकार का प्रचार उपयोगी और बहुधा आवश्यक होता है और आजकल इसका व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। सभी विदेश मंत्रालय इस काम के लिए सीखे हुए कर्मचारी रखते हैं और बहुत बड़े पैमाने पर प्रचारार्थ साहित्य प्रकाशित करते हैं। ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जब दो महायुद्धों के बीच की अवधि में झगड़े तै करने में प्रचार का निर्णायक प्रभाव पड़ा है—जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति की अदायगी इसका एक ज्वलंत उदाहरण है।

दूसरे प्रकार का प्रचार—जब वार्ता चल रही हो उस समय का प्रचार—अदूरदर्शिता का व्यवहार है और इससे शायद ही कभी सफलता मिलती हो। हाँ, जब वार्ता विदेश मंत्रालयों और राजदूतावासों के गुप्त वातावरण में अनुभवी कूटनीतिज्ञों के बीच न होकर एक आम सम्मेलन में हो रही हो जिस पर जनमत का प्रभाव पड़ सकता हो, जैसा कि कभी-कभी होता है, तो इस उपाय से सफलता मिल सकती है।

—२—

साधारणतया प्रचार में कूटनीतिज्ञ नहीं बल्कि विदेश मंत्री भाग लेते हैं। राजनीतिक तथा संसदीय हितों का विचार, अपनी नीति के लिए जन-साधारण का समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता और इन सबसे बढ़कर अपनी बात को न्यायोचित ठहराने की आदत, जो राजनीतिक जीवन में अनिवार्य रूप से पैदा हो ही जाती है — इन सब बातों के कारण विदेश मंत्री हर जगह आये-दिन खुलेआम नीति-संबंधी भाषण करते रहते हैं।

इसमें तो संदेह नहीं कि इन उद्घोषों से गलतफहमी और संदेह पैदा होता है और साधारणतया अन्तर्राष्ट्रीय संबंध गड़बड़ा जाते हैं पर आजकल की परिस्थितियों में ये उद्घोष अनिवार्य हैं।

किसी भी प्रतिष्ठावान विदेश मंत्री का काम नियमित पत्रकार सम्मेलनों के बिना नहीं चल सकता।

न ही वह उस रवैये को अपनाने से बच सकता है जिसे किसी लेखक ने “खुल्लम-खुल्ला अपनी न्यायपरायणता का ढिंढोरा पीटने” का रवैया कहा है।

इसके अतिरिक्त उससे अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे की भाषा में बोलने की भी आशा की जाती है।

राजदूतों का यह काम होता है कि पत्रकार सम्मेलनों में कही गयी जिन बातों से कुछ अनर्थ हुआ हो उन्हें उचित ढंग से समझाकर, आवश्यकतानुसार उन्हें मृदु बनाकर और बहुधा यह भी कहकर कि पत्रकारों ने वे बातें गलत ढंग से छपवा दी हैं, परिस्थिति को सँभाल लें।

—३—

थाह लेने के लिए अटकलबाजी करना कूटनीति का एक वैध साधन है और इस बात को भली भाँति ध्यान में रखना चाहिये कि यह प्रचार से भिन्न है। यद्यपि इसके लिए साधारणतया समाचारपत्रों

का माध्यम इस्तेमाल किया जाता है और इसीलिए बहुधा इस पर प्रचार का भ्रम होता है, परन्तु इस अटकलबाजी का उद्देश्य दूसरों के मत को प्रभावित करना नहीं बल्कि उसको परखना होता है। जो सुझाव इस प्रारंभिक रूप में थाह लेने के लिए रखे जाते हैं यदि उन्हें स्वीकृति न भी मिले तो किसी का नुकसान नहीं होता और विदेश मंत्री या राजदूत बिना किसी संकोच के इस संबंध में सारी जिम्मेदारी से इंकार कर सकता है या यह भी कह सकता है कि उसे इस विषय में कुछ भी मालूम नहीं। यदि दूसरे पक्ष दिलचस्पी दिखायें तो बड़ी सतर्कता से आगे कदम उठाये जा सकते हैं और कुछ परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। विदेश मंत्रालय बहुधा यह तरकीब काम में लाते हैं पर इसे सफलतापूर्वक व्यवहार में लाने के लिए बड़ी होशियारी और बड़े कौशल की आवश्यकता होती है। इस काम के लिए बड़े-बड़े समाचारपत्रों और अर्ध-सरकारी मुखपत्रों को इस्तेमाल किया जाता है क्योंकि उनमें किसी का नाम देने की आवश्यकता नहीं होती और बड़ी आसानी से उनका खंडन किया जा सकता है।

कूटनीति और आन्तरिक राजनीति

-१-

विदेश में किसी कूटनीतिज्ञ की साख को जितना धक्का स्वयं अपने देश की कमजोरी के कारण पहुँचता है उतना किसी दूसरी बात के कारण नहीं।

विदेशों की सरकारों का यदि किसी देश की सरकार के बारे में यह विचार हो कि उसे अपनी जनता का विश्वास प्राप्त नहीं है तो वे उसकी ओर से प्रकट किये गये मत को कोई महत्त्व नहीं देंगी।

वास्तव में जो चीज किसी राजदूत के पक्ष में सबसे अधिक उपयोगी होती है वह स्वयं उसकी सरकार की शक्ति और स्थायित्व है। इसके विपरीत यदि किसी देश की सरकार में कमजोरी, एकता का अभाव अथवा अस्थायित्व है तो उस देश के राजदूत की स्थिति को भी कोई महत्त्व नहीं मिलता।

इसका एक ज्वलंत उदाहरण दो महायुद्धों के बीच के काल में प्वाँकारे^१ के बाद फ्रांस की नीति की कमजोरी में मिलता है, जब फ्रांस की आन्तरिक कमजोरी इस बात में भली भाँति प्रतिबिम्बित हुई कि विदेशों में उसके प्रतिनिधियों की साख कम हो गयी।

चीनी गृहयुद्ध के दौरान में चीन के राजदूतों की स्थिति इसका एक दूसरा उदाहरण है।

आन्तरिक नीति का वैदेशिक संबंधों पर उससे कहीं अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है जितना कि अधिकांश लोग समझते हैं।

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से इसमें कोई बाधा नहीं है कि किसी प्रमुखतः कैथोलिक देश की आन्तरिक नीति कैथोलिकों के पक्ष में हो और वैदेशिक नीति प्रोटेस्टेन्टों के पक्ष में, जैसा कि रिचलू ने असाधारण

सफलता के साथ कर दिखाया; फिर भी साधारणतया हर देश को अपनी आन्तरिक नीति के कारण अपनी वैदेशिक नीति भी वैसी ही बनानी पड़ती है। जर्मनी के विरुद्ध एक मोर्चा बनाने का लुई नेपोलियन का प्रयास इसीलिए असफल रहा कि उसकी आन्तरिक नीति पर पादरियों का प्रभुत्व था।

—२—

सिद्धान्त-संबंधी मतभेद भी, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इतनी तनातनी है, वैदेशिक क्षेत्र में विभिन्न देशों की आन्तरिक नीति का ही प्रतिबिम्ब है।

किसी सुनिश्चित विचारधारा पर आधारित कोई भी राज्य, चाहे वह फाशिस्ट हो, या कम्युनिस्ट या लोकतांत्रिक, अपने से भिन्न विचारधारा के आधार पर संगठित राज्य के प्रति सहानुभूति नहीं रखता। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में यह कोई नयी बात नहीं है। प्रायः पूरी १९वीं शताब्दी के दौरान में मध्य योरोप और रूस के साम्राज्यवादी तथा राजतांत्रिक राज्य अपने को वंशगत उत्तराधिकार के सिद्धान्त के सूत्र में बँधा हुआ समझते थे यद्यपि यह बंधन बहुत ही कमजोर था और बिसमार्क को लुई नेपोलियन के साथ कामचलाऊ समझौता करने में जो कठिनाई हुई उसका कारण उस सत्ताहारी राजा के प्रति प्रशासक राजा की घृणा थी।

हिटलर और मुसोलिनी की मैत्री उनकी समान विचारधारा पर आधारित थी जिसकी अभिव्यक्ति कामिनटर्न-विरोधी संधि के रूप में हुई। फ़ैलेंगवादी स्पेन भी इस दल में इसी दृष्टिकोण के आधार पर सम्मिलित हुआ। इसी प्रकार आज के नये लोकतंत्र भी विचारधारा की समानता के आधार पर एकबद्ध हैं।

—३—

क्रान्ति की मनोवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को कठिन बना देती

है। यह मनोवृत्ति आन्तरिक नीति के कारण पैदा होती है। क्रान्ति-कारी राज्यों की आन्तरिक नीति का बहुधा दूसरे राज्यों द्वारा स्वीकृत मतों और उनकी नीति से संघर्ष होता है। क्रान्ति की मनोवृत्ति का एक कारण यह भी है कि जिस राज्य में क्रान्ति की विजय हो जाती है वह अपने ही मार्ग को न्याय्य मार्ग मानता है और अपने अहंकार में यह समझने लगता है कि सारी दुनिया उसी मार्ग को अपनाने के लिए बेचैन है। फ्रांस की क्रान्ति के बाद कूटनीति ने जो रूप धारण किया उससे ये तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं।

रूस की अक्टूबर क्रान्ति के लगभग दस वर्ष बाद तक सोवियत नीति इसी विश्वास से प्रभावित होती रही कि सारी दुनिया उसका अनुसरण करने को तैयार बैठी है।

हर महान क्रान्ति में विश्वव्यापकता की जो भावना निहित रहती है वह मूलतः राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध होती है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार से मेल नहीं खाती। क्रान्तिकारी वैदेशिक नीति में जो असंगतियाँ और अन्तर्विरोध होते हैं वे इसी का परिणाम हैं।

टिप्पणियां

ओपेनहीम, ई. फिलिप्स (१८६६-१९४६) (पृष्ठ १): अंग्रेजी के लोकप्रिय सामाजिक तथा जासूसी उपन्यासों के लेखक।

आपशरेन सिसेरो (पृष्ठ २): एल. सी. मोयजिस्च की इस पुस्तक में इस घटना का उल्लेख मिलता है कि १९४३-४४ में जब सर नैचबुल-हजेसेन तुर्की में ब्रिटेन के राजदूत थे तो उनके कागज चुराकर जर्मन राजदूतावास में पहुँचा दिये जाते थे। (पृष्ठ ६० भी देखिये)

कास्मो डि मेडिची (पृष्ठ ६): मेडिची परिवार का एक शासक; १४वीं और १५वीं शताब्दी में मेडिची परिवार फ्लोरेन्स में महाजनों का बहुत धनी परिवार था; धीरे-धीरे फ्लोरेन्स के नगर-गणतंत्र का शासन इस परिवार के हाथ में पहुँच गया और उसे प्राचीनतम राजवंशों के बराबर पद दिया जाने लगा।

बूमास, आलेक्जेंड्रे (१८०३-१८७०) (पृष्ठ ६): “दि काउंट आफ मान्टी क्रिस्टो” और “दि थ्री मस्केटियर्स” आदि पुस्तकों के रचयिता, प्रख्यात फ्रांसीसी उपन्यासकार।

फिलिप डि कोमाइन्स (१४४५-१५०९) (पृष्ठ ७): फ्रांसीसी राजनेता और इतिहासकार।

तालेरॉ, चार्ल्स मारिस (१७५४-१८३८) (पृष्ठ ८): प्रसिद्ध फ्रांसीसी कूटनीतिज्ञ तथा राजनेता जो कई वर्ष तक नेपोलियन के और बाद में लुई अठारहवें के विदेश मंत्री रहे।

शातोब्रियाँ, फ्रांशोआ रेने (१७६८-१८४८) (पृष्ठ ८): प्रख्यात फ्रांसीसी लेखक और राजनीतिज्ञ; लुई अठारहवें के शासन-काल में फ्रांस के गृहमंत्री रहे।

मेटर्निख, प्रिंस क्लीमेन्स वेन्जेल लोथर (१७७३-१८५९) (पृष्ठ १०): आस्ट्रिया के प्रख्यात राजनेता और कूटनीतिज्ञ; ४० वर्ष

तक आस्ट्रिया के विदेश मंत्री रहे और सभी जर्मन राज्यों का एक संघ बनाकर उन पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व स्थापित किया।

कैबूर, काउन्ट कैमिल्लो (१८१०-१८६१) (पृष्ठ ८) : इटली के योग्य राजनेता जिन्होंने इटली के छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर एक शक्तिशाली राज्य के रूप में संगठित किया।

बिसमार्क, प्रिंस ओटो वान (१८१५-१८९८) (पृष्ठ ८) : आस्ट्रिया और फ्रांस को पराजित करके छोटे-छोटे जर्मन राज्यों को मिलाकर प्रशा के अधीन जर्मन साम्राज्य का संगठन किया और जर्मनी के चांसलर बने।

कैनिंग, जार्ज (१७७०-१८२७) (पृष्ठ ८) : ब्रिटिश राजनेता; १८२२ से १८२६ तक ब्रिटेन के विदेश मंत्री और १८२७ में कुछ समय के लिए प्रधान मंत्री भी रहे।

क्लैरेंडन, जार्ज विलियम फ्रेडरिक विलियर्स (१८००-१८७०) (पृष्ठ १०) : ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ; १८५३ से १८५९ तक और १८६५ से १८७० तक ब्रिटेन के विदेश मंत्री रहे।

पामस्टन, लार्ड (१७२४-१८६५) (पृष्ठ ८) : १९वीं शताब्दी के प्रमुख ब्रिटिश राजनेता ; महारानी विक्टोरिया के शासन-काल में बहुत समय तक विदेश मंत्री तथा १८५९ से १८६५ तक प्रधान मंत्री रहे।

सैलिसबरी, लार्ड (जेम्स एडवर्ड हूबर्ट गैसक्वायन सेसिल) (१८६१-१९४०) (पृष्ठ ८) : प्रमुख ब्रिटिश राजनेता जो पार्लियामेन्ट के टोरी दल के सदस्य की हैसियत से १९०३-०५ और १९२४-२९ में लार्ड प्रिवी सील और १९०५ में बोर्ड आफ ट्रेड के अध्यक्ष और १९२५ से १९२९ तक हाउस आफ लार्ड्स केलीडर भी रहे।

बॉलिंग्गेम, एन्सन (१८२०-१८७०) (पृष्ठ १०) : १८६१ में अब्राहम लिंकन ने चीन में अमरीका का राजदूत नियुक्त किया ;

नवम्बर १८६७ से एक चीनी कूटनीतिक मंडल के साथ उन्होंने प्रमुख योरपीय राज्यों और संयुक्त राज्य अमरीका का दौरा किया और जुलाई १८६८ में वाशिंगटन में एक संधि करायी जिसमें चीन को बहुत-से अधिकार और अन्य बड़े-बड़े राष्ट्रों के बराबर पद दिया गया।

वाशिंगटन सम्मेलन (पृष्ठ ११): पहले महायुद्ध के बाद जापानी साम्राज्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में युद्ध की संभावना को रोकने के लिए १९२१ में वाशिंगटन में एक सम्मेलन हुआ जिसमें जापान ने अपनी नौ-सेना अमरीका की नौ-सेना के ३/५ से अधिक न बढ़ाना स्वीकार किया और शान्तुंग प्रान्त चीन को वापस दे दिया।

बेमोस्थेनीज (३८३-३२२ ई. पू.) (पृष्ठ १३): प्राचीन यूनानी राजनेता जो मकदूनिया के राजा फिलिप और उसके बेटे सिकन्दर के आक्रमणों के विरुद्ध एथेन्स और यूनान की स्वतंत्रता के लिए लड़ता रहा पर अन्त में असफल रहा।

रिशल्यू, कार्डिनल (१५८५-१६४२) (पृष्ठ १३): प्रख्यात फ्रांसीसी राजनेता जिन्होंने फ्रांस को योरप का सबसे प्रमुख राष्ट्र बनाया; सम्राट लुई तेरहवें के शासनकाल में १६२४ से १६४२ तक फ्रांस के प्रधान मंत्री रहे।

एम्स तार (पृष्ठ १३): १८७० में फ्रांस को युद्ध के लिए उकसाने के लिए बिसमार्क ने होहेनज़ालर्न राजवंश के राजकुमार लियोपोल्ड को स्पेन की राजगद्दी स्वीकार करने के लिए राजी कर लिया पर फ्रांस के प्रतिरोध पर प्रशा के सम्राट विलियम ने राजकुमार लियोपोल्ड से इंकार करवा दिया। परन्तु जब फ्रांस ने यह मौँग रखी कि भविष्य में भी होहेनज़ालर्न राजवंश के किसी व्यक्ति का नाम स्पेन की गद्दी के लिए नहीं पेश किया जायेगा तो सम्राट विलियम ने फ्रांसीसी राजदूत से मिलने से इंकार कर दिया और यह मौँग ठुकरा दी। एम्स नामक स्थान से १३ जुलाई, १८७० को इस आशय का एक तार बिस-

मार्क को भेजा गया और उसने फ्रांस की माँग और उसके ठुकराये जाने का समाचार अखबारों में छपवा दिया जिससे फ्रांस में क्रोध की लहर दौड़ गयी और फ्रांस ने प्रशा के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी।

बिसलन, टी. वुडरो (१८५६-१९२४) (पृष्ठ १४): पहले महायुद्ध के दौरान में संयुक्त राज्य अमरीका के प्रेसिडेंट, जिनके चौदह प्रख्यात सूत्रों के आधार पर सन्धि की शर्तें तैयार की गयीं।

लुई चौदहवाँ (१६३८-१७१५) (पृष्ठ १४): फ्रांस का राजा जिसके शासनकाल में फ्रांस का वैभव और संस्कृति अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी।

ब्रेस्त-लितोव्स्क (पृष्ठ १५): १९१७ में रूस की क्रान्ति के बाद रूसियों ने ब्रेस्त-लितोव्स्क में जर्मनों से संधि की जिसमें रूसियों की तरफ से उनके विदेश मंत्री ट्राट्स्की ने भाग लिया।

होहेन्स्टाउफ़ेन, फ्रेडरिक (११९४-१२५०) (पृष्ठ १५): हेनरी षष्ठम का पुत्र फ्रेडरिक द्वितीय जो १२१५ में जर्मनी का राजा चुना गया और जो अपने जीवन भर पोप की सत्ता के विरुद्ध लड़ता रहा।

एलिजाबेथ, साम्राज्ञी (१५३३-१६०३) (पृष्ठ १५): १६वीं शताब्दी में इंग्लैंड की साम्राज्ञी जिसका शासनकाल ब्रिटेन की समृद्धि, समुद्री शक्ति के विकास और साहित्य की उन्नति का स्वर्ण-युग माना जाता है।

हैरोल्ड, निकल्सन (१८८६-) (पृष्ठ १७): अंग्रेज राजनीतिज्ञ और लेखक; मैड्रिड और कुस्तुन्तुनिया में कूटनीतिक पदों पर रहे और १९३५ में पार्लियामेन्ट के सदस्य चुने गये; १९४१ से १९४६ तक बी. बी. सी. के गवर्नर रहे।

पापेन, फ्रैंज वान (पृष्ठ १८): १९३२ में जर्मनी के चान्सलर नियुक्त हुए और उसी वर्ष नवम्बर में इस्तीफा देकर हिटलर को सत्तारुढ़ किया; १९३४ में आस्ट्रिया में जर्मनी के राजदूत नियुक्त हुए और

आस्ट्रिया पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित कराने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की।

एडवर्ड तृतीय (१३१२-१३७७) (पृष्ठ २०) : इंग्लैंड का राजा जो १३२७ में गद्दी पर बैठा।

कैथरीन महान (१७२९-१७९६) (पृष्ठ २०) : रूस की साम्राज्ञी कैथरीन द्वितीय, जो कूटनीति और रणकौशल में बहुत निपुण थीं।

हान वंश (पृष्ठ २०) : २०६ ई. पू. में चीन के इस राजवंश की स्थापना हुई और इसने २२० ई. तक चीन पर शासन किया ; इसके शासनकाल में चीन ने राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक उन्नति की।

फाशोबा कांड (पृष्ठ २२) : १८९८ में जब मिस्र ने अंग्रेजों की मदद से सूडान का कुछ हिस्सा वापस ले लिया तो फ्रांस ने अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने के उद्देश्य से पूर्व और पश्चिम से अपनी फौजें नील नदी की तरफ भेजीं पर जनरल किचनर और भी बड़ी फौज लेकर नदी के रास्ते आगे बढ़े और फाशोदा नामक स्थान पर फ्रांसीसियों की हार हुई और उन्हें वापस लौटना पड़ा, १८९९ में एक संधि द्वारा फ्रांस का प्रभावक्षेत्र बहुत कम कर दिया गया।

पंजवेह की घटना (पृष्ठ २२) : कुस्क नदी के किनारे पर स्थित इस गाँव के बारे में अफगानिस्तान और रूस का झगड़ा था जिसे सुलझाने के लिए १८८५ में एक कमीशन नियुक्त किया गया, पर इसका काम आरंभ होने से पहले ही रूसी जनरल कोमारोव ने कुस्क नदी के पश्चिमी किनारे से अफगान फौजें हटाने की माँग की और जब यह माँग नहीं मानी गयी तो दूसरे दिन सबेरे ही उन्होंने हमला बोल दिया और अफगान फौज को पीछे ढकेल दिया ; इस लड़ाई में ६०० आदमी मारे गये और इस बात को लेकर इंग्लैंड और रूस के बीच लड़ाई छिड़ते-छिड़ते रह गयी।

प्रतापसिंह, महाराजा (पृष्ठ २२) : अपने पिता महाराजा रनबीर-सिंह की मृत्यु के बाद काश्मीर की गद्दी पर बैठे ; इन्हीं के जमाने में काश्मीर में पहली बार अंग्रेजों का रेजीडेंट नियुक्त हुआ ।

ओटोमैन साम्राज्य (पृष्ठ २२) : तुर्कों का साम्राज्य ; 'ओटोमैन' शब्द कदाचित् 'उस्मान' का बिगड़ा हुआ रूप है ; तीसरे खलीफ़ा उस्मान ने १३०० ई. में उस्मान वंश की नींव डाली जिसकी संतानें १९२२ ई. तक तुर्की पर शासन करती रहीं ; तुर्कों का राज्य उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और मध्य योरप तक फैला हुआ था ।

सैबाय का राज्य (पृष्ठ २५) : १९वीं शताब्दी में इटली का एक छोटा-सा राज्य जिसने इटली को आस्ट्रिया के प्रभुत्व से मुक्त कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की ।

हैंसबर्ग वंश (पृष्ठ २५) : योरप का एक प्राचीनम राजवंश ; १३वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी का राज्य इस वंश के हाथ में आया और कई शताब्दी तक योरप के विभिन्न भागों पर इस वंश का शासन रहा जिसमें बारी-बारी से वर्तमान जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगेरी, स्पेन, हालैंड, इटली, यूगोस्लाविया आदि सभी देशों के इलाके शामिल रहे । आज योरप का कोई भी राजवंश ऐसा नहीं है जिसके पूर्वजों का संबंध इस राजवंश से न रहा हो ।

केन्नन, जार्ज (१९०४—) (पृष्ठ २९) : अमरीकी राजनीतिज्ञ ; १९५२ से १९५४ तक सोवियत संघ में अमरीका के राजदूत रहे ; इससे पहले मास्को, प्राग, लंदन, वियना आदि में भी अन्य कूटनीतिक पदों पर रहे ।

कैलेंग (पृष्ठ ३०) : स्पेन का वर्तमान शासक-दल ।

अतातुर्क, मुस्तफा कमाल (१८८०-१९३८) (पृष्ठ ३३) : आधुनिक तुर्की के निर्माता और तुर्की गणतंत्र के पहले राष्ट्रपति जिन्होंने तुर्की में राजतंत्र को नष्ट करके क्रान्तिकारी सामाजिक सुधार किये ।

टेम्पलबुड, लार्ड (सर सैमुएल जॉन होर) (१८८०—)

(पृष्ठ ३३) : प्रमुख ब्रिटिश राजनेता; १९०० में पहली बार पार्लिया-
मेंट के सदस्य चुने गये ; १९२२ में वायु-मंत्री और बाद में भारत-
मंत्री रहे ; १९३५ में विदेश मंत्री और १९४०-४४ में स्पेन में ब्रिटेन
के राजदूत रहे ।

बाटन, सर हेनरी (१५६८-१६३९) (पृष्ठ ३७) : अंग्रेज
लेखक तथा कूटनीतिज्ञ ।

जामोरिन, (पृष्ठ ४२) : कालीकट का स्थानीय शासक जिससे
कोचीन के राजा की हमेशा लड़ाई रहती थी और इसी लड़ाई के कारण
१५०२ ई. में कोचीन के राजा ने पुर्तगालियों को कोचीन में अपना
व्यापारिक केन्द्र स्थापित करने की इजाजत दी ।

सेराजेवो हत्याकांड (पृष्ठ ४३) : जून १९१४ में सर्बिया की सीमा
के निकट बोसनिया के सेराजेवो नामक नगर की सड़क पर प्रिंसिप
नामक एक विद्यार्थी ने आस्ट्रिया-हंगरी के आर्चड्यूक फ्रैंसिस फर्डिनेन्ड
और उनकी पत्नी को गोली मार दी । इस घटना ने १९१४ के महायुद्ध
की ज्वाला भड़का दी ।

माल्मेसबरी, अर्ल आफ (जेम्स हैरिस) (१७४६-१८२०) (पृष्ठ
५६) : प्रख्यात ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ ।

नैचबुल-हजेसेन, सर ह्यू मोन्टगोमरी (१८८६-)
(पृष्ठ ६०) : ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ ; बाल्टिक राज्यों, ईरान, चीन, तुर्की,
बेल्जियम और लक्जेंमबर्ग में ब्रिटेन के राजदूत रहे ।

रिबेन्ट्राप, जोआखिम वान (पृष्ठ ६०) : हिटलर के विदेश मंत्री ।

लौथियन, लार्ड (पीटर हेनरी कर्) (१८८२-१९४०)
(पृष्ठ ६१) : ब्रिटिश राजनेता; विभिन्न सरकारी पदों पर रहने के बाद
१९३९-४० में संयुक्त राज्य अमरीका में ब्रिटेन के राजदूत रहे ।

हैलिफैक्स, लार्ड (एडवर्ड फ्रेडरिक लिन्डले वुड)
(१८८१-) (पृष्ठ ६१) : १९२५ में लार्ड इर्विन की पदवी
से विभूषित हुए और १९२६ में भारत के वाइसराय होकर आये;

१९४१-४६ में संयुक्त राज्य अमरीका में ब्रिटेन के राजदूत रहे।

कौबो, जूल्स (१८४५-१९३५) (पृष्ठ ६१): फ्रांसीसी कूटनीतिज्ञ; १८९७ में वाशिंगटन में, १९०२ में मैड्रिड में और १९०७ में बर्लिन में फ्रांस के राजदूत रहे; १९१५ में फ्रांस के विदेश मंत्रालय के सचिव बने।

लियन्स, लार्ड (रिचर्ड बिकर्टन पेमेल) (१८१७-१८८७) (पृष्ठ ६२): ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ; १८५९ से १८६४ तक वाशिंगटन में और १८६७ से १८८७ तक पेरिस में ब्रिटेन के राजदूत रहे।

बाल प्लाञ (पृष्ठ ६३): आस्ट्रिया के विदेश मंत्रालय का कार्यालय।

कन्सल्टा (पृष्ठ ६३): इटली के विदेश मंत्रालय का कार्यालय।

कीथ, राबर्ट (पृष्ठ ६३): १७४८ से १७५८ तक वियना में और उसके बाद १७६२ तक सेन्ट पीटर्सबर्ग में ब्रिटेन के राजदूत।

करज़न, लार्ड (जार्ज नाथानिएल करज़न) (१८५९-१९२५) (पृष्ठ ६४): भारत मंत्रालय तथा विदेश मंत्रालय में उच्च पदों पर रहने के बाद १८९८ में ३९ वर्ष की अवस्था में भारत के वाइसराय नियुक्त हुए और १९०५ में लार्ड किचनर से मतभेद हो जाने पर इस्तीफा दे दिया।

थिये, लुई एदोल्फ (१७९७-१८७७) (पृष्ठ ६७): फ्रांसीसी राजनेता और इतिहासकार; १८७१-७२ में फ्रांस के गणतंत्र के राष्ट्रपति रहे।

मीराबो, होनोर गैब्रिएल रिक्वेती (१७४९-१७९१) (पृष्ठ ६९): प्रख्यात फ्रांसीसी राजनेता।

मंकायबेली, निकोलो (१४६९-१५२७) (पृष्ठ ७२): फ्लोरेन्स निवासी राजनेता जिसने अपनी पुस्तक "राजकुमार" ("दि प्रिंस") तथा अन्य रचनाओं द्वारा राजनीतिक विचारधारा को बहुत प्रभावित किया।

तुर्गनेव, ईवान सर्गेयेविच (१८१८-१८८३) (पृष्ठ ७३) : प्रख्यात रूसी उपन्यासकार।

हैरिस, (पृष्ठ ७९) : देखिये माल्मेसबरी, (पृष्ठ ५६)

टायनबी, आनल्ड (१८८९-) (पृष्ठ ८२) : ब्रिटेन के प्रख्यात आधुनिक इतिहासकार; लंदन विश्वविद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के प्रोफेसर हैं और १९२५ से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की रायल इंस्टीट्यूट के संचालक हैं।

बेनैदेत्ती, काउन्ट विन्सेन्ट (१८१७-१९००) (पृष्ठ ८७) : फ्रांसीसी कूटनीतिज्ञ; १८६४ से १८७० तक प्रशा के राज-दरबार में फ्रांस के राजदूत थे।

प्वॉकारे, रेमंड (१८६०-१९३४) (पृष्ठ ९१) : फ्रांसीसी राजनेता; १९१२ में फ्रांस के प्रधान मंत्री और १९१३ में राष्ट्रपति चुने गये; १९२६ से १९२९ तक फिर प्रधान मंत्री रहे।

नेपोलियन, लुई (१८०८-१८७३) (पृष्ठ ९२) : नेपोलियन तृतीय; नेपोलियन बोनापार्ट का भतीजा और हालैंड के भूतपूर्व राजा का पुत्र जो अपने चाचा के नाम का फायदा उठाकर फ्रांस का राष्ट्रपति बन बैठा और १८५२ में अपने आपको फ्रांस का सम्राट घोषित कर दिया।

